तीनों की यात्रा

एक यात्रा-वृत्तांत

अभिषेक यादव

मुख्य पात्र :

- अभिषेक यादव : यह इस यात्रा वृत्तांत के लेखक और सूत्रधार हैं। मूल रूप से बनारस के हैं लेकिन भोपाल में रहते हैं। वे संवेदनशील हैं, हिंदी साहित्य पढ़ना पसंद करते हैं और दोस्तों को एकजुट रखने का प्रयास करते हैं। वे ईश्वर पर भरोसा रखते हैं और विपरीत परिस्थितियों में भी धैर्य बनाए रखने की कोशिश करते हैं।
- पीयूष: यह समूह का सबसे चंचल, निडर और 'जुगाड़ू' सदस्य है। वह धार्मिक भी है और शरारती भी । वह भीड़ में रास्ता बनाने और वीआईपी लाइन में घुसने में माहिर है, लेकिन कभी-कभी भावुक भी हो जाता है।
- राहुल: यह थोड़ा आराम-पसंद और संकोची स्वभाव का है। भीड़ और असुविधा देखकर जल्दी घबरा जाता है। उसे नींद बहुत प्यारी है, लेकिन वह अपने दोस्तों के साथ अंत तक बना रहता है। गुस्से में उसने पीयूष को थप्पड़ भी मारा।

अन्य पात्र:

- सचिन: अभिषेक का भाई, जो बनारस और गाँव में उनकी खातिरदारी करता है और साथ में यात्रा करता है।
- पंडित (गाँव का दोस्त): यह बनारस में अपनी 'डाला' (पिकअप गाड़ी) से दोस्तों को घुमाता है और उनकी मदद करता है।
- राहुल के जीजा जी: कहानी के अंत में आने वाला पात्र। वे 'दामाद वाली खातिरदारी' की उम्मीद रखते हैं और वापसी की यात्रा में ट्रेन में अजीब व्यवहार करते हैं।

तारीख: पच्चीस **जनवरी** दो हज़ार पच्चीस **समय: शाम के** चार **बजे**

भोपाल की सड़कों पर शाम का जाम किसी इम्तिहान से कम नहीं होता, इसलिए हमने रिस्क न लेते हुए समय से पहले निकलने का फैसला किया। हमारी ट्रेन शाम छह **बजे संत हिरदाराम नगर (बैरागढ़) स्टेशन से थी। करोंद से वहाँ की दूरी भले ही** दस-बारह **किलोमीटर हो, लेकिन ट्रैफिक के डर से हम** चार **बजे ही घर से निकल पड़े।**

मैं और पीयूष तीन सौ छह नंबर की बस में सवार हुए। बस लालघाटी की ओर बढ़ ही रही थी कि कुछ दूर आगे से राहुल भी उसी बस में आ मिला। लालघाटी उतरकर हमने बिना वक्त गंवाए ऑटो किया और सीधे रेलवे स्टेशन पहुँच गए।

घड़ी में शाम के पाँच **बज रहे थे। हमारे पास एक पूरा घंटा था।**

प्लेटफॉर्म नंबर दो पर पहुँचते ही हमने अपना 'दिमाग' लगाया। हमें लगा कि ट्रेन का सामान्य डिब्बा अक्सर पीछे ही होता है, इसलिए हम तसल्ली से प्लेटफॉर्म के बिल्कुल आखिरी छोर पर जाकर जम गए। कोई पक्की योजना तो थी नहीं, बस दोस्तों का साथ था।

माहौल को हल्का करते हुए पीयूष बोला, *"तुम दोनों मेरे साथ हो, बस बोलो जय श्री राम!"* हमने भी सारी चिंता उस पर डालते हुए कहा, ", *श्री राम हम तो तेरे सहारे हैं, अब तू ही नैया पार लगा।"*

थोड़ी देर शांति रही। ट्रेन का समय नज़दीक था, तो हमने सोचा कि भीड़ में फंसने से पहले फ्रेश हो लिया जाए। हम बिल्कुल निश्चिंत थे। तभी स्टेशन के लाउडस्पीकर पर एक घोषणा गूंजी, जिसने हमारे पैरों तले ज़मीन खिसका दी।

"ध्यान दें... ट्रेन का सामान्य कोच इंजन के पास, सबसे आगे लगा है।"

हम सन्न रह गए। हम प्लेटफॉर्म के सबसे पिछले हिस्से में थे और हमारा डिब्बा सबसे आगे आने वाला था! उसी पल ट्रेन की सीटी सुनाई दी और इंजन की लाइट दिखाई देने लगी। हमारा सारा गणित उल्टा पड़ चुका था।

"भागो!" बस यही एक शब्द दिमाग में गूंजा।

हमने अपने भारी बैग संभाले और प्लेटफॉर्म के दूसरे छोर की तरफ अंधाधुंध दौड़ लगा दी। उधर ट्रेन प्लेटफॉर्म पर प्रवेश कर रही थी और इधर हम तीनों अपनी पूरी ताकत से दौड़ रहे थे। कंधों पर लटके बैग हमारी रफ़्तार कम कर रहे थे, लेकिन रुकने का मतलब था ट्रेन छूटना। जनवरी की कड़ाके की ठंड थी, सर्द हवाएं चल रही थीं, लेकिन उस दौड़ और घबराहट में हम तीनों पसीने से तर-बतर हो रहे थे।

हम तीनों ने पहले अलग-अलग कोच में प्रयास किया। मैं सबसे आगे वाले कोच में चढ़ा, जबकि राहुल और पीयूष दूसरे डिब्बों में गए। लेकिन

अलग-अलग होने के बावजूद हमें कहीं सीट नहीं मिली। हारकर हम ट्रेन से नीचे उतरे, प्लेटफार्म पर मिले और फिर एक साथ एक ही सामान्य कोच में चढ़ गए।

कोच खचाखच भरा हुआ था। अमूमन हर सीट पर चार लोग बैठे थे, लेकिन हमारी नज़र दो ऐसी सीटों पर पड़ी जहाँ केवल तीन-तीन लोग ही बैठे थे।

पीयूष ने वहाँ बैठे एक अंकल से विनम्रता से कहा, "अंकल जी, हमें बैठने के लिए थोड़ी सी जगह दे दीजिए।" अंकल ने साफ मना कर दिया। पीयूष ने बार-बार प्यार से आग्रह किया, लेकिन वो हमारी बातों को नज़रअंदाज़ करते रहे।

तभी पीयूष मेरे पास आया और कान में फुसफुसाया, "अभिषेक, ये ऐसे नहीं मानेंगे। तू थोड़ा निडर होकर, रौब से बोल। शायद तब जगह मिल जाए।"

मैंने कहा, "ठीक है।"

मैंने भी अंकल से आग्रह किया, लेकिन वो वैसे ही अनदेखा कर रहे थे। मुझे थोड़ा गुस्सा आ गया। मैंने अपनी आवाज़ थोड़ी तेज़ की और कहा, "अंकल, हमें भी थोड़ी जगह दे दीजिए। देखिए, बाकी सब लोग एक सीट पर चार-चार होकर बैठे हैं, सब एडजस्ट कर रहे हैं। आप भी थोड़ा खिसक कर जगह बना लीजिए।"

इस पर अंकल बदतमीजी पर उतर आए और हमारी उनसे बहस होने लगी। माहौल गरमा गया था, लेकिन तभी हमने सोचा— "जाने दो।"

हम धर्म के काम और पवित्र यात्रा के लिए निकले हैं, ऐसे में झगड़ा करना शोभा नहीं देता। थोड़ा कष्ट ही सही, पर मन मैला नहीं करेंगे। हमने सोचा, "इनको भी वहीं जाना है, भले ही ये सो कर जाएँ, हम खड़े होकर चलेंगे।"

माहौल थोड़ा तनावपूर्ण था, तभी पीयूष मेरे कान के पास आया और मज़ाक भरे लहज़े में फुसफुसाया, "अभिषेक, मुझे बहुत तेज़ गैस हो रही है। अब मैं बैठूँगा नहीं, बल्कि यहीं खड़े रहकर उस खड़ूस अंकल को अपनी 'पाद' की बदबू से परेशान करूँगा।"

उसकी यह बचकानी हरकत सुनकर मेरी हँसी छूट गई, लेकिन मन ही मन मुझे यह ठीक नहीं लगा। मैंने उसे समझाया, "अरे रहने दे यार! कोई बात नहीं, चल हम नीचे फर्श पर ही बैठ जाते हैं।" लेकिन पीयूष अपनी ज़िद पर अड़ा रहा और खड़ा ही रहा।

इसी बीच राहुल की किस्मत चमक गई। उसे एक सीट पर थोड़ी सी जगह मिल गई—बस इतनी कि किसी तरह कमर टिकाई जा सके। राहुल वहाँ एडजस्ट होकर बैठ गया, लेकिन मैं और पीयूष अभी भी खड़े थे।

हमारी नज़र ऊपर वाली बर्थ पर गई, जहाँ दो लोग बैठे थे। हमने उनसे बैठने के लिए पूछा, तो उन्होंने टाल दिया, "अभी हमारे साथी बाहर गए हैं, आने ही वाले हैं।" हमने इंतज़ार किया। जब ट्रेन स्टेशन से चल पड़ी और उनका कोई साथी नहीं आया, तो उन्होंने हार मान ली और पीयूष को वहाँ बैठने दिया।

अब हम तीनों में से सिर्फ मैं अकेला खड़ा था।

तभी मेरी नज़र पास की बर्थ पर लेटे एक युवक पर पड़ी, जो पंडित की वेशभूषा में था। मुझे लगा कि धर्म का चोला पहने व्यक्ति के मन में थोड़ी दया ज़रूर होगी। मैंने उम्मीद के साथ कहा, "पंडित जी, थोड़ी जगह दे दीजिए, मुझे भी बैठाल लीजिए।" लेकिन पंडित जी ने निष्ठुरता से मना कर दिया और आराम से लेटे रहे।

उस पल मेरे मन में एक गहरा विचार आया— "हम सब धर्म के काम के लिए, तीर्थ यात्रा पर जा रहे हैं, लेकिन लोगों के मन में दूसरों के लिए रत्ती

भर भी उदारता नहीं है। हर कोई बस अपना सुख और अपना भला चाहता है, दूसरों के कष्ट से किसी को कोई मतलब नहीं।"

फिर मैंने एक लंबी सांस ली और खुद को समझाया, "ठीक है। भगवान मुझे जैसे ले जाएंगे, मैं वैसे ही जाऊंगा। मैं तो भगवान का हूँ, मुझे सुख-सुविधाओं की क्या चाह? जैसे वो चाहेंगे, यह यात्रा वैसे ही पूरी होगी।" यह सोचकर मैंने अपनी परिस्थिति को ईश्वर की मर्जी मानकर स्वीकार कर लिया।

काफी मशक्कत के बाद किस्मत ने थोड़ा साथ दिया। एक ऊपर की सीट खाली हुई, लेकिन उस पर राहुल जाकर बैठ गया। मेरे हिस्से में नीचे वाली सीट का बस एक कोना आया, जहाँ मैं बमुश्किल टिक भर सकता था। खैर, समय काटने के लिए मैंने अपना बैग खोला और हिंदी का नया उपन्यास "गुनाहों का देवता" निकालकर पढ़ने लगा।

मेरे पास ही नीचे फर्श पर दो बुजुर्ग महिलाएं बैठी थीं। मुझे वहाँ एडजस्ट होते देख उनमें से एक ने स्नेह से कहा, "बेटा, तुम भी यहीं बैठोगे? चलो, हम सबको साथ ही जाना है।" हम उस तंग जगह में जैसे-तैसे सिमट कर बैठ गए।

ट्रेन अब खचाखच भर चुकी थी। गैलरी में, फर्श पर, जहाँ देखो लोग बैठे थे—पैर रखने तक की जगह नहीं बची थी। विडंबना यह थी कि जहाँ कुछ लोग इतनी भीड़ में भी आराम से फैलकर बैठे थे, वहीं अगर कोई जरूरतमंद उनसे थोड़ी सी जगह मांग ले, तो वो सीधे दादागिरी पर उतर आते थे।

तभी मेरे साथ नीचे बैठीं एक आंटी ने सामने सीट पर बैठे एक अंकल से विनती की। अंकल की उम्र लगभग पचास साल रही होगी। आंटी ने कहा, "बेटा, मुझे थोड़ी सी जगह दे दो, पैर फैलाने में दिक्कत हो रही है।"

उम्मीद थी कि वो अपनी उम्र और आंटी की अवस्था का लिहाज करेंगे, लेकिन वो तो जैसे लड़ने के लिए ही तैयार बैठे थे। वो तुरंत भड़क गए, गुंडागर्दी दिखाने लगे और यहाँ तक कि गाली-गलौज पर उतर आए।

एक बुजुर्ग महिला से बात करने का उनका यह घटिया तरीका देखकर मेरा खून खौल उठा। बर्दाश्त की हद पार हो रही थी, मेरा मन किया कि अभी उठूँ और उस आदमी को कायदे से सबक सिखाऊँ। मेरे तेवर आक्रामक हो रहे थे, तभी राहुल ने स्थिति को भांप लिया। उसने ऊपर से ही मुझे टोका, "अभिषेक! शांत बैठो। मत उलझो।"

राहुल की आवाज़ सुनकर मैंने अपनी मुट्ठियाँ भींच लीं और गुस्से को पी गया। मैं और वो आंटी चुपचाप नीचे ही बैठे रहे। बाहर अंधेरा गहरा रहा था और ट्रेन अपनी रफ्तार से, शोर मचाती हुई आगे बढ़ रही थी।

रात का एक बज रहा था। अचानक ऊपर से आवाज़ आई— "अरे सुनिए! आप ऊपर आ जाइए।"

मैं चौंक गया। यह वही पंडित जी थे जिन्होंने कुछ देर पहले मुझे सीट देने से मना कर दिया था। मैं हैरान था, लेकिन ऊपर चढ़ गया। दरअसल, उनकी नज़र मेरे हाथ में थमे उपन्यास 'गुनाहों का देवता' पर पड़ गई थी। पंडित जी को हिंदी साहित्य से गहरा लगाव था और एक युवा को हिंदी उपन्यास पढ़ते देख उनका मन बदल गया।

उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, तुम्हें यह पढ़ता देख मुझे बहुत खुशी हुई। आज की पीढ़ी रील और मोबाइल में खोई है, ऐसे में तुम्हें हिंदी को समझते और पढ़ते देख बहुत अच्छा लगा।"

बस फिर क्या था, साहित्य ने हमारे बीच की दीवार गिरा दी। पंडित जी से अन्य उपन्यासों और लेखकों पर चर्चा होने लगी। बातों का सिलसिला ऐसा चला कि कब रात के एक बजे से सुबह के छह बज गए, पता ही नहीं चला। बातों-बातों में अयोध्या आने वाला था।

लखनऊ निकलने के बाद ट्रेन की भीड़ छंट गई थी। अब बोगी लगभग खाली थी। जो रात हमने धक्के खाते और झगड़ते बिताई थी, अब वही सुबह सुकून भरी थी। हम तीनों—मैं, राहुल और पीयूष—अब अपनी-अपनी ऊपर की सीट पर आराम से लेटे हुए थे।

तभी मेरे मन में एक विचार कौंधा। मैंने राहुल से कहा, "राहुल, यार हम लोग अयोध्या उतर जाते हैं। बनारस, अयोध्या के बाद चलेंगे।"

राहुल थोड़ा हिचकिचाया। उसका मन अयोध्या उतरने का नहीं था, शायद वह पहले से तय योजना (बनारस) पर ही टिके रहना चाहता था। उसने कहा, "नहीं यार, अपन सीधे बनारस चलते हैं। अभी यहाँ रुकने का क्या मतलब?"

लेकिन मेरा दिल नहीं मान रहा था। मुझे अंदर से एक खिंचाव महसूस हो रहा था कि रामलला के दर्शन करने ही हैं। मैंने फिर से आग्रह किया, "भाई, रास्ते में ही तो है। चलो, भगवान राम के दर्शन करके फिर आगे बढ़ेंगे।"

जब राहुल नहीं माना, तो मैंने पीयूष की तरफ देखा। पीयूष का व्यक्तित्व ही ऐसा है—उसे हर धार्मिक स्थल से प्यार है। उसे आप जहाँ भी चलने को कहो, वो हमेशा तैयार रहता है। मैंने उससे पूछा, तो उसने तुरंत हामी भर दी, "हाँ भाई, बिल्कुल! चलो उतरते हैं।"

अयोध्या पहुँचने में मुश्किल से बीस मिनट बचे थे कि तभी मेरे भाई सचिन का फोन आया। उसने वीडियो कॉल पर वहाँ की स्थिति दिखाई—श्रद्धालुओं का सैलाब उमड़ा हुआ था।

भीड़ देखकर राहुल घबरा गया। उसे अपनी नींद और ट्रेन की कन्फर्म सीट ज्यादा प्यारी लग रही थी। वह बोला, "नहीं यार, बहुत भीड़ है। दर्शन में बहुत समय लग जाएगा, पता नहीं वापस ट्रेन मिलेगी या नहीं? अभी अपने पास सीट है, आराम से सोते हुए बनारस चलते हैं।" राहुल

की नींद और तर्क ने पीयूष को भी अपनी तरफ कर लिया। दोनों ने अयोध्या उतरने से साफ मना कर दिया। मैंने भी मन मसोसकर सचिन को फोन किया और कह दिया, "तुम लोग दर्शन करो, हम नहीं आ रहे हैं।"

लेकिन मेरा मन नहीं मान रहा था। ट्रेन अपनी रफ्तार से बढ़ रही थी और मेरी बेचैनी भी। मैंने एक आखिरी कोशिश की। मैंने पीयूष से कहा, "यार, अयोध्या उतरते हैं न! दर्शन करके ही चलेंगे।" पीयूष ने बहाना बनाया, "अरे नहीं भाई, अभी मंदिर अधूरा है, निर्माण कार्य चल रहा होगा, सब फैला हुआ होगा। जब पूरा बन जाएगा तब आएंगे।"

मैंने भावुक होकर कहा, "भाई, क्या पता फिर कब आना हो? 'कल' किसने देखा है?"

मेरी यह बात शायद पीयूष को छू गई या फिर उसने इसे किस्मत पर छोड़ने का फैसला किया। उसने अपने हाथ की दो उंगलियां आगे कीं और कहा, "ठीक है, हम टॉस करते हैं। इन दोनों में से कोई एक उंगली पकड़ो।" राहुल और मैंने बारी-बारी से एक-एक उंगली पकड़ी।

किस्मत ने अपना फैसला सुना दिया था—निष्कर्ष यही निकला कि हम अयोध्या उतरेंगे। जो होगा देखा जाएगा! हम तीनों ने एक स्वर में जयकारा लगाया— "जय जय श्री राम!"

अब ट्रेन 'अयोध्या कैंट' स्टेशन पहुँचने वाली थी। हम तीनों अपना सामान लेकर दरवाज़े पर आ खड़े हुए। सुबह के सात बज रहे थे। हल्की धूप खिली थी और ठंडी हवा चल रही थी। ट्रेन से बाहर का नज़ारा अद्भुत था। बाहर स्कूलों में बच्चे कतार में खड़े थे, तिरंगा फहराने की तैयारी चल रही थी और लाउडस्पीकर पर देशभक्ति के गीत गूंज रहे थे। आज गणतंत्र दिवस था। राम की नगरी में देशभक्ति का यह माहौल देखकर मन पुलकित हो उठा।

स्टेशन पर गाड़ी रुकी और हम नीचे उतरे। उतरते ही हमारा स्वागत अयोध्या की मशहूर 'वानर सेना' ने किया। बंदरों का वहां राज था—किसी के हाथ से थैला छीन रहे थे, तो कोई दीर्घाओं पर उछल-कूद कर रहा था। हम तीनों सतर्कता से उनके बीच से निकले, अयोध्या की पवित्र धरती को प्रणाम किया और बंदरों की शरारतों को देखते हुए स्टेशन से बाहर की ओर चल पड़े।

स्टेशन के बाहर ई-रिक्शा (टोटो) की कतार लगी थी। हम तीनों ने सरयू घाट जाने के लिए दाम पूछा, तो उन्होंने एक स्वर में तीन सौ रुपये मांगे। हम दाम कम कराने की सोच ही रहे थे कि वहां खड़े एक पुलिस वाले ने हमें टोक दिया। उसने मदद करते हुए कहा, "यहाँ से गाड़ी मत पकड़ो, ये लूट लेंगे। थोड़ा आगे बढ़ो, वहाँ से बस मिल जाएगी। बस बीस रुपये में घाट तक छोड़ देगी।"

पुलिस वाले की सलाह मानकर हम आगे बढ़ गए। थोड़ा चलने पर हमें एक छोटी सी चाय की दुकान दिखी। दुकान काफी पुरानी और टूटी-फूटी थी, जिसे एक पचास वर्ष के आस-पास के काका चला रहे थे। दुकान के पीछे से एक नाला बह रहा था, जिससे गंदी बदबू आ रही थी, लेकिन वहीं पास में एक पुराना, अस्सी के दशक का हैंडपंप भी लगा था।

हमने एक टेबल पर अपने बैग रखे और सोचा पहले फ्रेश हो लिया जाए। हम मुँह धोने और ब्रश करने लगे। मैं (अभिषेक) मुँह धो रहा था और राहुल हैंडपंप चला रहा था। तभी राहुल ने अपनी आदत के मुताबिक शरारत की—वह अचानक हैंडपंप चलाना छोड़कर लघुशंका के लिए भाग गया।

मेरे चेहरे पर साबुन लगा था। मैंने खुद ही हैंडपंप चलाने के लिए पीछे होकर जोर लगाया। गीली ज़मीन पर मेरा पैर फिसला और अगले ही पल मैं धड़ाम से मुँह के बल ज़मीन पर था!

मेरी यह हालत देखकर मुझे उठाने की बजाय राहुल और पीयूष पेट पकड़कर हँसने लगे। वे मेरा मज़ाक उड़ा रहे थे। मैं मिट्टी झाड़कर खड़ा हुआ और अपनी हालत देखकर मुझे भी हँसी आ गई। मैंने हँसते हुए कहा, "वाह! क्या शानदार स्वागत किया है अयोध्या की धरती ने मेरा! आते ही साष्टांग प्रणाम करवा दिया।"

हँसी-मज़ाक के बाद हमने तीन चाय का ऑर्डर दिया। कुछ ही देर में मिट्टी के सोंधे बर्तनों (कुल्हड़) में चाय आ गई। जगह भले ही गंदी थी, लेकिन चाय का स्वाद अमृत जैसा था। एक घूंट पीते ही गिरकर लगने वाली चोट का दर्द गायब हो गया और मन आनंद से भर गया।

चाय के साथ बिस्कुट खाए, पैसे चुकाए और काका से बस स्टॉप का रास्ता पूछकर हम अपनी मंजिल 'सरयू घाट' की ओर चल पड़े।

आज गणतंत्र दिवस था, लेकिन शहर में वो चहल-पहल नदारद थी जिसकी हमें उम्मीद थी। सड़कों पर स्थानीय लोग कम और बाहर से आए श्रद्धालु ही ज़्यादा नज़र आ रहे थे। सरकारी दफ्तर सुनसान पड़े थे, वहाँ खामोशी थी, लेकिन उनकी इमारतों पर शान से लहराता भारत का राष्ट्रीय ध्वज अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा था।

हम तीनों—मैं, राहुल और पीयूष—लगातार चलते जा रहे थे, लेकिन बस स्टॉप का कहीं अता-पता नहीं था। करीब एक मील चलने के बाद हमें सड़क किनारे एक बुजुर्ग दिखाई दिए। वो हाथ में एक मोटरसाइकिल का टायर लिए उसका ट्यूब ठीक करने में व्यस्त थे।

मैंने पास जाकर पूछा, "दादा, ये बस स्टॉप कहाँ है?" दादा ने बिना सिर उठाए, काम करते हुए ही जवाब दिया, "आगे से दायें मुड़ जाओ, वहीं लगता है।" उनकी आवाज़ में थोड़ी थकान और ऊब थी। ऐसा लग रहा था मानो सुबह से न जाने कितने भटकते यात्रियों को रास्ता बता-बताकर वो परेशान हो चुके थे। हमने उन्हें धन्यवाद दिया और बताए हुए रास्ते पर चल दिए।

सामने बस स्टॉप दिखाई तो देने लगा, लेकिन वहाँ तक पहुँचना एक चुनौती थी। मुख्य सड़क पर पानी भरा हुआ था। न तो बारिश का मौसम था और न ही कोई बाढ़, फिर भी इतना जलभराव समझ से परे था। गंदे पानी और कीचड़ के कारण लोगों को सड़क पार करने में भारी कठिनाई हो रही थी। हम तीनों ने भी जैसे-तैसे जूते बचाते हुए सड़क पार की और बस स्टॉप पर जा खड़े हुए।

हम बस का इंतज़ार करने लगे, लेकिन बस को आने में अभी वक्त था। समय तेजी से बीत रहा था और हमारे सब्र का बांध टूटने लगा। हमने सोचा, "बस के इंतज़ार में कब तक खड़े रहेंगे? चलो, ऑटो वालों से ही दोबारा बात कर लेते हैं। क्या पता यहाँ कोई सही दाम पर ले जाने को तैयार हो जाए।"

पीयूष ने पास खड़े एक ऑटो वाले से पूछा, "अंकल, सरयू घाट जाना है, चलोगे?" ऑटो वाले ने हामी भरी और पूछा, "कितनी सवारी हो?" पीयूष ने कहा, "तीन।" ऑटो वाले ने तपाक से जवाब दिया, "एक सवारी का सौ रुपये लगेगा।"

हम तीनों सन्न रह गए। अयोध्या स्टेशन से सरयू घाट की दूरी मुश्किल से पाँच किलोमीटर थी। पाँच किलोमीटर के लिए तीन सौ रुपये! हमें समझ आ गया कि यहाँ आस्था के नाम पर लूट मची है। आज के समय में मौका मिलते ही लोग एक-दूसरे को लूटने में संकोच नहीं करते।

हम आपसी चर्चा कर ही रहे थे कि तभी वहाँ एक बुजुर्ग व्यक्ति आए। वे अयोध्या के ही निवासी लग रहे थे और उनके चेहरे पर एक ज्ञानी जैसा तेज था। उन्होंने पास आकर स्नेह से पूछा, "बेटा, कहाँ जाना है?" मैंने (अभिषेक) कहा, "बाबा, सरयू घाट जाना है, पर ये ऑटो वाले तो बहुत ज्यादा मांग रहे हैं।"

बाबा ने शांत भाव से समझाया, "देखो बेटा, आज अयोध्या में भीड़ बहुत अधिक है। लोग प्रयागराज जाने से पहले अयोध्या और वाराणसी होकर

जा रहे हैं। यात्रियों की अधिकता देखकर ये ऑटो वाले मनमाना किराया मांग रहे हैं। तुम लोग इनकी बातों में मत आओ। यहीं से बस पकड़ लो, अभी आने वाली है। वह तुम्हें सिर्फ बीस रुपये में घाट तक छोड़ देगी।"

तभी पास ही खड़े एक रिक्शे पर बैठा व्यक्ति, जो पूरी तरह नशे में धुत था, लड़खड़ाती आवाज़ में बोला, "का रे... कितना मांग रहा है ये?" मैंने कहा, "तीन सौ रुपये मांग रहा है।"

यह सुनते ही उस नशेड़ी व्यक्ति का पारा चढ़ गया। उसने आव देखा न ताव, ऑटो वाले को गालियों से नवाज़ना शुरू कर दिया। उसने अपनी लड़खड़ाती जुबान में चिल्लाकर कहा, "अबे ... (गाली), शर्म नहीं आती? बच्चों को लूटता है? तुम लोग इसकी गाड़ी में मत बैठना, बस से जाओ!"

उसकी हालत देखकर हंसी भी आ रही थी और हैरानी भी हो रही थी कि नशे में होकर भी वह हमारा पक्ष ले रहा था। तभी सामने से एक इलेक्ट्रिक बस आती दिखाई दी। बस खचाखच भरी थी, पैर रखने की भी जगह नहीं दिख रही थी। हमने उस बुजुर्ग बाबा को धन्यवाद कहा और भीड़ को चीरते हुए उस बस में चढ़ने का प्रयास करने लगे।

तीनों दोस्त किसी तरह बस में चढ़ तो गए, लेकिन अंदर का नज़ारा बाहर से भी ज्यादा भयानक था। भीड़ का आलम यह था कि बस का दरवाजा बंद करना किसी जंग जीतने जैसा हो गया था। अंततः कुछ लोगों को धक्के देकर अंदर ठूंसा गया और बड़ी मुश्किल से दरवाजा बंद हुआ। बस हिचकोले खाते हुए आगे बढ़ी।

आज बस का कंडक्टर भी अलग ही रंग में था। वह टिकट काटने की जहमत नहीं उठा रहा था, बल्कि सीधे वसूली पर उतर आया था। बीस रुपये के किराये की जगह वह यात्रियों से पच्चीस रुपये ऐंठ रहा था। जब कुछ जागरूक यात्रियों ने विरोध किया और हंगामा खड़ा हुआ, तब जाकर वह अपनी मनमानी से बाज आया।

बस अभी कुछ दूर ही चली थी कि माहौल बिगड़ने लगा। बस में अधिकतर गाँव की महिलाएं थीं, जिन्हें ऐसी बंद और एसी (या शीशे बंद वाली) बसों में सफर करने की आदत नहीं थी। घुटन और हिचकोलों के कारण एक महिला की तबीयत बिगड़ी और उसे उल्टी हो गई। उसे देख एक अजीब सी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया शुरू हुई—देखते ही देखते बस की आधी महिलाओं का जी मचलने लगा।

अभिषेक, जो भीड़ में किसी तरह अपने सामान के साथ खड़ा था, उसके साथ तो हद ही हो गई। एक महिला को इतनी अचानक उल्टी आई कि उसे संभालने का मौका ही नहीं मिला और उसने सीधे अभिषेक के बैग पर ही उल्टी कर दी। अभिषेक का मन खट्टा हो गया, वह खीझ उठा, लेकिन उस महिला की हालत देख कुछ बोल भी नहीं सका। पूरी बस में खट्टी बदबू और अफरा-तफरी मच गई।

हालात इतने बिगड़ गए कि ड्राइवर को बस की गति धीमी करनी पड़ी। अब एक-एक महिला बारी-बारी से दरवाजे के पास आती और उल्टियां करतीं। अभिषेक, राहुल और पियुष—तीनों इस दुर्गंध और भीड़ से बेहाल हो चुके थे। हारकर वे तीनों खिसकते हुए ड्राइवर के केबिन के पास आकर खड़े हो गए, जहाँ थोड़ी ताजी हवा की उम्मीद थी।

मुसीबत यहीं खत्म नहीं हुई। मुख्य सड़क पर भारी जाम लगा था। ड्राइवर को बस घुमाकर एक लंबे रास्ते से ले जानी पड़ी। जिस सफर को एक घंटे में खत्म होना था, उसमें तीन घंटे लग गए।

करीब तीन घंटे की इस जद्दोजहद के बाद, जब बस सरयू घाट पहुंची, तो यात्रियों के चेहरों पर सुकून दिखाई दिया। बस रुकते ही सारे यात्री ऐसे उतरने लगे जैसे किसी कैद से रिहा हुए हों।

बस की उस उमस भरी और थका देने वाली यात्रा के बाद, बाहर का नज़ारा किसी दूसरी दुनिया जैसा था। बस से उतरते ही कानों में 'जय श्री राम' के जयकारे गूंजने लगे। पुलिस प्रशासन भी पूरी तरह मुस्तैद था;

पुलिसकर्मी लगातार भीड़ को नियंत्रित कर रहे थे और लोगों को सही रास्ता दिखा रहे थे।

माहौल में भक्ति का ऐसा नशा था कि अभिषेक, पियुष और राहुल भी खुद को रोक नहीं पाए। तीनों ने जोश में भरकर 'जय श्री राम' का नारा लगाया और घाट की तरफ बढ़ चले।

रास्ते भर अयोध्या की नई सुंदरता उन्हें लुभाती रही। कथा संग्रहालय की भव्यता और राम की पैड़ी की चमक आँखों को सुकून दे रही थी। चौराहे पर स्थापित विशाल वीणा को देखकर तीनों हैरान रह गए—वह वाद्ययंत्र कला का एक अद्भुत नमूना था। सड़क के बीचों-बीच कतार में खड़े सूर्य कुल के स्तंभ सूर्यवंश के गौरव की गवाही दे रहे थे, जिन्हें देखकर मन आनंद से भर उठा। दीवारों पर जगह-जगह रामायण के प्रसंगों के चित्र उकेरे गए थे, मानो दीवारें खुद राम कथा सुना रही हों।

तीनों दोस्तों ने अपने मोबाइल निकाले और इन खूबसूरत नज़ारों के साथ खूब सारी तस्वीरें खींचीं। फोटो खींचते और नज़ारे देखते हुए वे घाट पर पहुँच गए।

घाट पर श्रद्धालुओं का तांता लगा हुआ था। हालाँकि, इतनी बड़ी संख्या में लोगों के आने के कारण वहां सुविधाओं में थोड़ी कमी महसूस हुई और साफ-सफाई की ज़रूरत भी दिखाई दी। फिर भी, सरयू जी का दृश्य इतना मनमोहक था कि ये कमियां गौण (छोटी) लग रही थीं। लोग बड़े उत्साह से पवित्र जल में डुबकी लगा रहे थे और इस पावन दृश्य को अपनी यादों और मोबाइल कैमरों में संजो रहे थे।

भीड़ को चीरते हुए थोड़ा आगे बढ़ने पर उन्हें घाट पर एक ऐसी जगह मिल गई, जहाँ स्नान किया जा सकता था। पास ही एक चौकी थी, जो सामान रखने के लिए सुरक्षित लग रही थी। भीड़ में चोरों का डर हमेशा

बना रहता है, इसलिए तीनों ने वहीं अपना डेरा जमाया और एक रणनीति बनाई।

तय हुआ कि अभिषेक और पियुष पहले नदी में उतरेंगे, जबकि राहुल किनारे पर रहकर सामान की निगरानी करेगा। साथ ही, राहुल को यह ज़िम्मेदारी भी दी गई कि वह दोस्तों के नहाते हुए वीडियो बनाए ताकि यह पल हमेशा के लिए यादगार बन जाए।

प्रशासन ने सुरक्षा के कड़े इंतज़ाम कर रखे थे। घाट के किनारे स्नान के लिए एक सीमित दायरा बनाया गया था, जिसके आगे प्लास्टिक के बैरिकेड्स (घेरे) लगा दिए गए थे। यह इसलिए ज़रूरी था ताकि भीड़ के धक्के से कोई गहरे पानी में न चला जाए और डूबने का खतरा न हो।

लेकिन सुरक्षा के इस घेरे की एक कीमत भी थी। बैरिकेड्स की वजह से पानी का बहाव थम सा गया था और हज़ारों श्रद्धालुओं के नहाने के कारण उस घेरे के अंदर का जल बहुत गंदा और मटमैला हो चुका था। फिर भी, आस्था के आगे यह सब मायने नहीं रखता। मन में राम का नाम लेकर तीनों ने उसी जल में डुबकी लगाई और खुद को पवित्र किया।

स्नान के बाद, वे तैयार हुए और नए उत्साह के साथ राम जन्मभूमि मंदिर की ओर बढ़ चले।

स्नान के बाद और दर्शन से ठीक पहले पियुष के पेट में चूहे कूदने लगे। हारकर हम तीनों एक चाय की दुकान पर रुके। हमने चाय का ऑर्डर दिया और साथ में घर से लाए हुए बिस्कुट खाने लगे। उस समय वह साधारण सी चाय और बिस्कुट भी किसी शाही दावत से कम नहीं लग रहे थे; सच है, भूख में तो रूखी रोटी भी स्वादिष्ट लगती है।

चाय-नाश्ता कर हम आगे बढ़े। सड़क पूरी तरह श्रद्धालुओं से पटी हुई थी, हर जुबान पर बस 'जय श्री राम' का नारा था। तभी पियुष की नज़र 'गीता गोरखपुर प्रेस' के स्टॉल पर पड़ी। वह हमें खींचकर वहां ले गया।

दुकान के अंदर एक बुजुर्ग बैठे थे, जिनकी उम्र करीब साठ-सत्तर वर्ष रही होगी। वहां कई लोग आ रहे थे, किताबें पलटकर देख रहे थे, दाम पूछ रहे थे और बिना कुछ लिए चले जा रहे थे। बुजुर्ग दुकानदार सुबह से यह सिलसिला देख-देखकर परेशान हो चुके थे।

मैं (अभिषेक) जानता था कि पियुष को अभी कुछ नहीं खरीदना। मैंने उसे समझाया भी, *"यार, अभी दर्शन करने जा रहे हैं, किताबें लेकर कहाँ घूमेंगे? वापसी में ले लेंगे।"* लेकिन पियुष तो पियुष था, बोला, *"अरे खरीदेंगे नहीं, बस देखते हैं कैसी किताबें हैं।"* राहुल ने भी हामी भरी, *"चल यार, देख ही लेते हैं।"*

तीनों स्टॉल पर खड़े होकर किताबें देखने लगे। पियुष ने श्रीमद्भगवद्गीता उठाई, उसे देखा और फिर बोला, *"नहीं यार, इसे हम मथुरा से खरीदेंगे।"* फिर उसने किताब वापस रखते हुए उस बुजुर्ग से बड़े मासूमियत से कहा, *"अंकल, अभी हम दर्शन करने जा रहे हैं, वापस आएंगे तब खरीदेंगे।"*

यह सुनते ही बुजुर्ग का सब्र का बांध टूट गया। उन्होंने झल्लाते हुए अपनी देसी भाषा में बुदबुदाया, "आवा... चाहे आपन मैया... (अपशब्द)...।"

पियुष तो आगे बढ़ गया, लेकिन मेरे कान खड़े हो गए। मैंने सुन लिया था कि उन्होंने क्या कहा। मैंने पियुष से पूछा, *"तूने सुना अंकल ने क्या कहा?"* पियुष ने लापरवाही से कहा, *"नहीं, मैंने नहीं सुना।"*

शायद उसने सच में नहीं सुना था, या सुनकर अनसुना कर दिया। हम आगे बढ़ गए, लेकिन मैं मन ही मन सोच रहा था—*गलती उनकी भी*

नहीं थी। जब सैकड़ों लोग बस किताबें देखकर और दाम पूछकर चले जाएं, तो इंसान का चिड़चिड़ा होना लाजमी है। वह भी तो इंसान ही हैं।

"छोड़ो यार, आगे बढ़ो," कहकर तीनों ने उस कड़वे अनुभव को वहीं झाड़ दिया और जुबान पर फिर से 'जय श्री राम' का नाम ले लिया। राहुल ने अपने कदम तेज किए तो देखा-देखी हम दोनों ने भी रफ्तार बढ़ा दी। मन में बस यही धुन थी—जितनी जल्दी पहुंचेंगे, उतनी जल्दी प्रभु के दर्शन होंगे।

कुछ ही दूर चलने पर हनुमान गढ़ी आ गया। वहाँ नज़ारा देखा तो पैरों की गति अपने आप थम गई। श्रद्धालुओं का सैलाब उमड़ा हुआ था। हमने आपस में सलाह की—"अगर यहाँ हनुमान जी के दर्शन की लाइन में लगे, तो आज रामलला के दर्शन तो नहीं हो पाएंगे।" वक्त की नज़ाकत को समझते हुए हमने हनुमान जी को मन ही मन प्रणाम किया और सीधे राम मंदिर की ओर बढ़ गए।

वहां से महज दो सौ मीटर आगे राम मंदिर का मार्ग था। वहाँ जाने वाली भीड़ को देखकर तो मेरे पास शब्द ही नहीं बचे। जिधर देखो, बस सिर ही सिर दिखाई दे रहे थे। आम तौर पर ऐसी भीड़ देखकर घबराहट होती है, लेकिन सच कहूँ? लोगों के अंदर प्रभु की एक झलक पाने की यह तड़प और पागलपन देखकर मेरा हृदय गदगद हो गया। लगा कि सनातन आस्था आज भी अपने चरम पर है।

हम भी उस भक्ति के समुद्र में एक बूंद की तरह शामिल हो गए। लाखों कंठों से एक साथ 'जय श्री राम' का जयघोष हो रहा था और भीड़ इंच-दर-इंच आगे बढ़ रही थी।

भीड़ का दबाव इतना था कि बिछड़ने का डर सताने लगा। हमने तुरंत अपनी 'सुरक्षा-श्रृंखला' बनाई—राहुल सबसे आगे था, उसके पीछे मैं (अभिषेक) और मेरे पीछे पियुष। हम तीनों एक कतार में थे। बिछड़ न जाएं, इसलिए मैंने राहुल का बैग कसकर पकड़ लिया और पियुष ने मेरा

बैग थाम लिया। हम रेंगते हुए आगे बढ़ रहे थे। स्थिति यह थी कि दस कदम चलने में ही आधे घंटे से ज्यादा का समय लग गया।

कहने को तो बसंत का मौसम था, लेकिन सूरज आज आग उगल रहा था। धूप इतनी तेज थी कि हर कोई पसीने से तर-बतर हो रहा था। मगर रामलला की एक झलक पाने की प्यास के आगे यह पसीना और गर्मी भक्तों के लिए कोई मायने नहीं रखती थी।

सड़क पर भीड़ का दबाव इतना था कि अपनी मर्जी से खड़ा होना भी मुश्किल था; इंसान बस भीड़ के बहाव के साथ आगे खिसक रहा था। इसी धक्का-मुक्की के बीच चोर भी अपना हाथ साफ करने में लगे थे।

चलते-चलते अचानक मुझे (अभिषेक को) अपनी जेब पर किसी का हाथ महसूस हुआ। कोई मेरी जेब टटोल रहा था। मेरा माथा ठनका—कहीं यह मेरा मोबाइल न उड़ा ले! मैंने तुरंत सावधानी बरती और उस संदिग्ध व्यक्ति से थोड़ी दूरी बना ली, ताकि मैं सुरक्षित रह सकूँ।

मैं तो बच गया, लेकिन थोड़ी ही देर में आगे हंगामा हो गया। आगे चल रहे एक बुजुर्ग (अंकल) का बटुआ किसी ने मार लिया था। हड़बड़ी और गुस्से में अंकल ने अपने बगल में चल रहे एक व्यक्ति को पकड़ लिया। वह व्यक्ति अपने छोटे बच्चों के साथ दर्शन करने आया था।

अंकल उस पर जोर-जोर से चिल्लाने लगे, "तूने ही मेरा बटुआ निकाला है!" वह व्यक्ति अपनी सफाई देता रहा, लेकिन शोरगुल में कुछ सुनाई नहीं दे रहा था।

भीड़ का धैर्य जवाब दे रहा था। अगर वहां लड़ाई बढ़ती तो भगदड़ मचने का खतरा था। आस-पास के लोगों ने समझदारी दिखाई और तुरंत उन दोनों को भीड़ से किनारे किया। लोगों ने समझाया, *"भाई साहब, यहाँ बीच रास्ते में तमाशा मत करो, वरना भगदड़ मच जाएगी। जो भी शिकायत है, पुलिस के पास जाओ।"*

भीड़ ने उन्हें लाइन से बाहर कर दिया और भक्तों का रेला फिर अपनी धुन में आगे बढ़ गया।

आगे बढ़ते हुए रास्ते में एक शिव मंदिर दिखाई दिया। मंदिर के कपाट तो उस समय बंद थे, लेकिन उसकी वास्तुकला और निर्माण शैली इतनी अद्‌भुत थी कि नज़रें वहीं ठहर गईं। इसी बीच, मैंने (अभिषेक) अपने भाई को फोन लगाया। वे लोग दर्शन करके बाहर आ चुके थे। मेरे मन में विचार आया कि अगर वे यहीं कहीं मिल जाएं, तो हम अपना भारी सामान उन्हें सौंप दें ताकि हम सुकून से दर्शन कर सकें। लेकिन वहाँ की व्यवस्था ऐसी थी कि दर्शन करके लौटने वाले श्रद्धालुओं का निकास मार्ग बिल्कुल अलग था, इसलिए उनसे मिलना संभव नहीं हो पाया।

खैर, अब भीड़ अलग-अलग कतारों में बँट चुकी थी, जिससे रास्ता थोड़ा खुल गया और चलने में आसानी होने लगी। हम तेजी से कदम बढ़ा ही रहे थे कि अचानक प्रभु श्री राम के मंदिर का भव्य शिखर दिखाई देने लगा। वह सुनहरा शिखर देखते ही शरीर की सारी थकान गायब हो गई और मन में उत्साह का ज्वार उठ खड़ा हुआ। हम तीनों और जोर-जोर से 'जय श्री राम' के जयकारे लगाने लगे।

जल्द ही हम सुरक्षा जाँच केंद्र पर पहुँच गए। सुरक्षा के कड़े इंतजाम थे। हमने अपने बैग स्कैनर मशीन में डाले और दूसरी तरफ से सुरक्षित बाहर आ गए। पुलिसकर्मियों ने भी बारीकी से सबकी तलाशी ली ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि कोई भी व्यक्ति कोई आपत्तिजनक या हानिकारक वस्तु लेकर मंदिर परिसर में प्रवेश न करे।

चेकिंग पार करने के बाद हमने एक समझदारी वाला काम किया। जूते-चप्पल अलग से स्टैंड पर जमा करने के झंझट से बचने के लिए, हमने उन्हें उतारकर अपने-अपने बैग के अंदर ही डाल लिया। अब हम अपना सामान लॉकर काउंटर पर जमा करने के लिए आगे बढ़े। चारों ओर बस एक ही गूंज थी—"जय श्री राम!"

सुरक्षा जाँच से जैसे ही हम अंदर दाखिल हुए, वहां का नज़ारा किसी विशाल कार्यशाला जैसा था। लॉकर काउंटर अभी अस्थाई रूप से बने हुए थे, मानो किसी निर्माणाधीन इमारत का हिस्सा हों। सामने ही जूतों-चप्पलों के स्टॉल थे और लॉकर के लिए तो जैसे कतारों का अंत ही नहीं था।

समय बचाने के लिए हम अलग-अलग लाइनों में बिखर गए। मैं (अभिषेक) काउंटर नंबर पांच की लाइन में लगा, जबकि राहुल और पियुष दस नंबर की कतार में जा खड़े हुए। मोबाइल बैग में रख दिए थे, इसलिए संपर्क का कोई जरिया नहीं बचा था। मुझे पता ही नहीं था कि वे किस हाल में हैं। तभी राहुल भीड़ चीरते हुए मेरे पास आया और बोला, ***"यार, अलग-अलग भटकने से अच्छा है, हम एक ही लाइन में लगते हैं।"***

हमने रणनीति बदली। पियुष को लाइन में खड़ा किया और हम दोनों ने तीनों बैगों को एक साथ रस्सियों से बांध दिया ताकि वे एक ही साथ जमा हो जाएं। खैर, काफी मशक्कत के बाद बैग जमा हुए, टोकन हाथ में आया और हम आज़ाद हुए।

अब हमारे पास न बैग का बोझ था, न मोबाइल की चिंता। मन में सिर्फ प्रभु के दर्शन का उत्साह था। हम तेजी से आगे बढ़े। 'जय श्री राम' के जयकारे हमारे कदमों को और तेज कर रहे थे। भीड़ बहुत ज्यादा थी, इसलिए रस्सों के सहारे कतारों को नियंत्रित करके आगे बढ़ाया जा रहा था। एक और सुरक्षा जाँच (चेकिंग पॉइंट) पार करने के बाद आखिरकार हम मंदिर के मुख्य द्वार पर जा पहुंचे।

वहाँ का माहौल दिव्य था। सूर्यदेव की किरणें मंदिर पर ऐसे पड़ रही थीं मानो आकाश से अमृत बरस रहा हो। मंदिर अभी निर्माणाधीन था, उसका प्रथम तल ही बना था, लेकिन उसकी नक्काशी और भव्यता

देखकर आँखें फटी रह गईं। हम सोचने लगे—*जब यह अधूरा होकर इतना सुशोभित हो रहा है, तो पूर्ण होने पर इसकी आभा कैसी होगी?* जैसे-जैसे हम समीप जा रहे थे, मंदिर का आकार और विशाल होता जा रहा था। आखिरकार वह पल आ ही गया। मंदिर की पहली सीढ़ी पर कदम रखते ही अभिषेक, राहुल और पियुष—तीनों ने श्रद्धा से अपना मस्तक झुकाया। वातावरण भक्तिमय था, और हमारे होठों पर अनायास ही राम स्तुति आ गई:

॥दोहा॥

श्री रामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भवभय दारुणं । नव कंज लोचन कंज मुखकर कंज पद कंजारुणं ॥१॥

कन्दर्प अगणित अमित छविनव नील नीरद सुन्दरं । पटपीत मानहुँ तडित रुचि शुचिनोमि जनक सुतावरं ॥

भजु दीनबन्धु दिनेश दानवदैत्य वंश निकन्दनं । रघुनन्द आनन्द कन्द कोशलचन्द दशरथ नन्दनं ॥३॥

शिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदारु अङ्ग विभूषणं ।आजानु भुज शर चाप धरसंग्राम जित खरदूषणं ॥४॥

इति वदति तुलसीदास शंकरशेष मुनि मन रंजनं ।मम् हृदय कंज निवास कुरुकामादि खलदल गंजनं ॥५॥

मन जाहि राच्यो मिलहि सो वर सहज सुन्दर सांवरो ।करुणा निधान सुजान शील स्नेह जानत रावरो ॥६॥

एहि भांति गौरी असीस सुन सियसहित हिय हरषित अली।तुलसी भवानिहि पूजी पुनि-पुनि मुदित मन मन्दिर चली ॥७॥

जानी गौरी अनुकूल सियहिय हरषु न जाइ कहि ।मंजुल मंगल मूल वाम अङ्ग फरकन लगे।..."

मंदिर के अंदर प्रवेश करते ही हमारी आँखें बस एक ही छवि को ढूँढ रही थीं। धड़कनें तेज थीं और मन में एक ही रट थी—कब दिखेंगे मेरे राम?

और फिर वह पल आया... हम गर्भगृह के सामने थे। सामने साक्षात प्रभु श्री राम विराजमान थे। बालक स्वरूप, श्याम वर्ण की वह अलौकिक मूरत देखते ही सुधबुध खो गई। उनके मुख पर वह सौम्य और मनमोहक मुस्कान, सिर पर चमकता हुआ स्वर्ण मुकुट, और नन्हे हाथों में सुशोभित धनुष—सब कुछ इतना दिव्य था कि लगा जैसे समय वहीं थम गया हो। उस छवि को देखकर मन हर्ष और आनंद के अतिरेक से भर गया।

लेकिन वहां श्रद्धालुओं का सागर उमड़ा हुआ था। सुरक्षाकर्मी और सेवादार भीड़ को लगातार आगे बढ़ा रहे थे। हमें प्रभु को निहारने के लिए महज कुछ ही पल मिले। इससे पहले कि हम उस छवि को अपनी आँखों में पूरी तरह बसा पाते, हमें आगे बढ़ने का इशारा कर दिया गया।

भीड़ के प्रवाह के साथ हम बाहर तो निकल आए, लेकिन मन अब भी वहीं अंदर छूट गया था। इतने वर्षों की प्रतीक्षा और इतना लंबा सफर तय करने के बाद, उन चंद पलों के दर्शन से हृदय को संतुष्टि नहीं मिली। प्यास अभी बुझी नहीं थी।

बाहर आते ही अभिषेक, राहुल और पियुष ने एक-दूसरे की आँखों में वही अधूरापन देखा। बिना कुछ ज्यादा कहे, तीनों ने वहीं खड़े होकर एक पक्का संकल्प लिया— *"नहीं, मन नहीं भरा। हम ऐसे नहीं जाएंगे। हम दोबारा लाइन में लगेंगे और प्रभु के दर्शन फिर से करेंगे।"*

चारों ओर गूंज उठा—"बोलो सियावर रामचंद्र की जय!"

मन में कसक बाकी थी, इसलिए हम वापस मुड़े। पियुष ने साहस करके वहां तैनात एक पुलिसकर्मी के पास जाकर बड़ी विनम्रता से आग्रह किया, *"भैया, इतनी दूर से आए हैं, लेकिन भीड़ में प्रभु के दर्शन ठीक से नहीं हो पाए। क्या आप हमें एक बार और जाने देंगे?"* शायद पियुष की मासूमियत या हमारी श्रद्धा देखकर पुलिसकर्मी का दिल पसीज गया और उसने हमें दोबारा अंदर जाने की अनुमति दे दी।

हम फिर से मंदिर की सीढ़ियों पर नतमस्तक हुए और 'राम स्तुति' का पाठ करते हुए आगे बढ़े। इस बार हमने होशियारी दिखाई और बीच की धक्का-मुक्की वाली लाइन के बजाय कोने वाली कतार को चुना, जहाँ श्रद्धालुओं का दबाव थोड़ा कम था। यह निर्णय सही साबित हुआ। इस बार हमें प्रभु श्री रामलला को जी-भरकर निहारने का अवसर मिला। उस दिव्य बाल रूप को आँखों में बसाकर मन प्रफुल्लित हो गया और आँखों में हर्ष के आँसू छलक आए।

हृदय में पूर्ण संतोष और खुद को धन्य मानते हुए हम मंदिर प्रांगण से बाहर आए। बाहर आकर हमने उस निर्माणाधीन मंदिर की नक्काशी को निहारा और सोचा कि आज हम उस इतिहास का हिस्सा बने हैं, जो आने वाले समय में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाएगा।

काउंटर से अपने बैग वापस लिए और बाहर आकर एक जगह सुकून से बैठे। सबसे पहले मोबाइल ऑन किया और घर-परिवार के आए हुए कॉल्स का जवाब दिया। अब हमारा अगला पड़ाव रेलवे स्टेशन था।

बाहर निकलते ही फिर वही भीड़ मिली। हमने मोबाइल में मैप खोला, लेकिन पक्का करने के लिए पास ही बैठे एक पंचर बनाने वाले से स्टेशन का रास्ता पूछा। उसने बताया कि वह ज्यादा दूर नहीं है। महज पाँच सौ मीटर चलने के बाद अयोध्या धाम रेलवे स्टेशन हमारे सामने था।

स्टेशन के बाहर दुकानों की कतारें थीं। पियुष की नज़र 'बेर' पर पड़ी। उसने एक बेर चखा, स्वाद थोड़ा अलग था, फिर भी खरीद लिया। अब समस्या भूख की थी। पेट में चूहे दौड़ रहे थे। हमने कई दुकानों पर खाना देखा, लेकिन वहां केवल 'चावल और सब्जी' ही मिल रही थी। पियुष ने चावल खाने से साफ मना कर दिया। अब दोस्ती का उसूल था—एक नहीं खाएगा, तो बाकी भी कैसे खाते? मजबूरन राहुल और मैंने भी खाना नहीं खाया।

अंत में तय हुआ कि चाय का सहारा लिया जाए। हमने चाय पी और भूख मिटाने के लिए बैग से वही बिस्कुट निकाले जो हम भोपाल से साथ लेकर आए थे। रामलला के दर्शन की खुशी में यह रूखा-सूखा नाश्ता भी मंजूर था।

भूख मिटाने के लिए हम जिस चाय की दुकान पर रुके, वह वक्त के साथ काफी पीछे छूटी हुई लग रही थी। एक पुरानी, जर्जर सी दुकान, जहाँ आज भी मिट्टी की अंगीठी पर चाय उबल रही थी। बैठने के लिए टूटी-फूटी लकड़ी की बेंचों का जुगाड़ करके टेबल-कुर्सी जैसा कुछ बनाया गया था।

अंदर का नजारा और भी निराश करने वाला था। खुले में रखे उबले हुए आलुओं पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं और हर तरफ गंदगी पसरी थी। आम दिनों में शायद हम ऐसी जगह खड़े भी न होते, लेकिन आसपास की बाकी दुकानों का हाल भी इससे जुदा नहीं था। मजबूरी थी, और भूख भी जोरों पर थी।

दुकान पर भीड़ इतनी थी कि दुकानदार के हाथ-पांव फूल रहे थे। वह बेचारा इतने ग्राहकों को संभाल ही नहीं पा रहा था। उसे देखकर लगा कि शायद उसने अपनी पूरी जिंदगी में ऐसी भीड़ नहीं देखी होगी। बरसों तक मंदिर-मस्जिद विवाद के साये में रही अयोध्या में पहले इतने

यात्री नहीं आते थे, लेकिन अब भव्य मंदिर बनने के बाद श्रद्धालुओं की जो बाढ़ आई है, उसके लिए ये पुराने दुकानदार अभी तैयार नहीं हैं।

खैर, हमने आँखें मूंदकर उन हालातों को स्वीकार किया। मिट्टी के कुल्हड़ में चाय पी और अपने साथ लाए बिस्कुट खाकर पेट को थोड़ी तसल्ली दी। वहाँ से अयोध्या धाम रेलवे स्टेशन महज पचास मीटर की दूरी पर था। चाय खत्म कर, अपना सामान उठाया और हम स्टेशन की ओर चल पड़े।

स्टेशन के बाहर पहुँचकर हमने सबसे पहले सचिन को फोन लगाया। पता चला कि जनाब रास्ता भटक गए थे और अभी तक स्टेशन नहीं पहुँच पाए थे। हमने उन्हें लोकेशन समझाई और जल्दी आने को कहकर स्टेशन के अंदर चले गए।

तभी लाउडस्पीकर पर एक राहत भरी अनाउंसमेंट गूंजी—*"यात्रियों की सुविधा के लिए अयोध्या से वाराणसी तक एक स्पेशल ट्रेन चलाई जा रही है, जो प्लेटफॉर्म नंबर तीन पर खड़ी है।"* यह सुनते ही हम लपककर प्लेटफॉर्म तीन की ओर भागे। ट्रेन खड़ी थी, लेकिन अंदर का नज़ारा देख उत्साह थोड़ा ठंडा पड़ गया। बोगी में धूल की परत जमी थी, मानो बरसों से सफाई न हुई हो। खैर, हमारे पास कोई विकल्प नहीं था। हमने खुद ही सीटों से धूल झाड़ी, जगह बनाई और बैठ गए। कुछ देर में सचिन भी आ गए। भीड़ कम थी, इसलिए हम चारों ने एक-एक पूरी सीट घेर ली और सोने की तैयारी करने लगे।

लेकिन उस ट्रेन में हम अकेले नहीं थे। सीटों के नीचे चूहों की मैराथन चल रही थी। वे बेखौफ होकर इधर-उधर दौड़ रहे थे, पर थकान इतनी थी कि हमने उन चूहों के साथ ही समझौता कर लिया।

अभी आँख लगी ही थी कि रात के करीब आठ बजे हमारी शांति भंग हो गई। एक अंकल अपने परिवार के साथ वहां आ धमके। वे खुद तो अपनी सीट पर पसर गए, लेकिन उनका मुंह कैंची की तरह चलने लगा।

वे इधर-उधर की बातें करने लगे और बीच-बीच में हमें फोकट का ज्ञान भी देने लगे।

गुस्सा तो बहुत आ रहा था, लेकिन बुजुर्ग समझकर हम चुप रहे। जब बर्दाश्त से बाहर हुआ, तो हमने उनकी बेटी से विनती की, *"जी, थोड़ा धीरे बात कर लीजिए। हम कल से सोए नहीं हैं। बनारस आने में अभी समय है, सोचा एक-दो घंटे सो लेंगे।"*

उम्मीद थी कि वे समझेंगे, लेकिन उल्टा जवाब मिला, *"तो क्या हम गपशप भी न करें?"* यह सुनकर हम सन्न रह गए। पियुष खीझकर चुपचाप लेट गया, लेकिन ऐसे शोर में नींद कहाँ आने वाली थी? मैं और पियुष करवटें बदलते रहे, परेशान होते रहे। दूसरी तरफ राहुल का अलग ही जलवा था—उसे दुनियादारी और शोर-शराबे से कोई फर्क नहीं पड़ रहा था; वह मजे से खर्राटे ले रहा था।

काफी देर बाद, जब अंकल को यह एहसास हुआ कि ट्रेन रात के एक बजे से पहले बनारस नहीं पहुँचने वाली, तब जाकर उनकी 'गपशप' थमी और उन्होंने भी सोने का फैसला किया। तब जाकर बोगी में थोड़ी शांति हुई।

अंकल और उनकी बेटी तो अपनी बातें खत्म करके बड़े मजे से सोने लगे, लेकिन हमारी (अभिषेक और पियुष की) नींद तो वे पहले ही हराम कर चुके थे। अब थकी हुई आँखों में नींद कहाँ से आती? करवटें बदल-बदल कर हम परेशान हो चुके थे।

तभी हमारे खुराफाती दिमाग में एक विचार आया—*"क्यों न इन्हें सबक सिखाया जाए? अगर इन्होंने हमें नहीं सोने दिया, तो हम भी इन्हें चैन की नींद नहीं सोने देंगे।"* पहले हमने सोचा कि स्पीकर पर तेज़ आवाज़ में भजन बजा दें। लेकिन फिर ख्याल आया कि ट्रेन में बाकी यात्री भी हैं,

बेचारे बेवजह परेशान होंगे। तो हमने बीच का रास्ता निकाला। हमने अपने मोबाइल पर भजन चलाए और साथ में खुद भी सुर में सुर मिलाकर, थोड़ी ऊँची आवाज़ में गाने (भजन कीर्तन करने) लगे।

नतीजा वही हुआ जो हमने सोचा था। हमारी "भक्ति" के शोर से अंकल और उनकी बेटी की नींद काफूर हो गई। वे कुलबुलाकर उठ बैठे। उनके और उनकी बेटी के चेहरे के हाव-भाव देखकर साफ़ लग रहा था कि उन्हें अपनी गलती का अहसास हो गया है। उन्हें यह सबक मिल चुका था कि सफर में साथी यात्रियों की थकान और नींद का सम्मान करना कितना ज़रूरी है।

इसी भजन-कीर्तन और खींचतान के बीच ट्रेन अपनी मंज़िल पर पहुँच गई। हम वाराणसी स्टेशन पर उतरे और बाहर आए।

स्टेशन से बाहर निकलते ही थकान अपना असली असर दिखाने लगी। सचिन, हरिओम और मिथुन की हिम्मत अब जवाब दे गई थी। उनकी आँखों में नींद भरी थी, इसलिए उन्होंने आगे जाने के बजाय सीधे अपने घर जाने का निश्चय किया और वे वहाँ से निकल गए।

लेकिन हम तीनों—अभिषेक, राहुल और पियुष—की ऊर्जा अभी खत्म नहीं हुई थी। हम बाबा विश्वनाथ की नगरी में थे और बिना माथा टेके जाना हमें मंजूर नहीं था। हमने थकान को दरकिनार किया और तय किया कि पहले गंगा जी में पवित्र स्नान करेंगे और फिर महादेव के दर्शन के लिए जाएंगे।

रेलवे स्टेशन से बाहर आते ही बनारस का एक अलग ही रूप सामने था। दिन में जो शहर शोर और भीड़ से गूंजता रहता है, वह इस समय गहरी नींद में सोया हुआ था। ऑटो या रिक्शा लेने के बजाय हमने पैदल ही दशाश्वमेध घाट की ओर बढ़ने का निर्णय लिया।

गलियाँ बिल्कुल सूनी थीं। दूर कहीं टिमटिमाती हुई स्ट्रीट लाइटें अंधेरे को चीरने की कोशिश कर रही थीं, जिससे माहौल और भी रहस्यमयी लग रहा था। इतनी रात गए सबसे बड़ी समस्या शौचालय ढूँढने की थी। स्टेशन का शौचालय चालू तो था, लेकिन वहां पैर रखने की भी जगह नहीं थी। मजबूरन, हमने गूगल मैप का सहारा लिया और घाट के रास्ते में दिखने वाले एक सुलभ शौचालय की ओर बढ़ चले।

वहां पहुँचे तो देखा कि बाहर से ताला लगा हुआ है और अंदर कुछ कर्मचारी सो रहे हैं। अभिषेक के पेट में हल्का दर्द उठ रहा था, लेकिन इस सुनसान रात में कोई सुविधा नहीं थी। हमने रुकने के लिए होटल भी तलाशे, लेकिन सारे होटल फुल थे। हमारे पास बस चलते रहने के अलावा कोई चारा नहीं था।

तभी पियुष, जिसे हर वक़्त कुछ न कुछ चाहिए होता है, बोला—"*यार, चाय पीते हैं।*" किस्मत से सामने एक चाय का ठेला दिखाई दिया। हम उम्मीद लेकर वहां गए, लेकिन चायवाला अभी आया ही था और अपनी अंगीठी में कोयले डाल रहा था। उसने साफ कह दिया, "*भैया, अभी आँच लगने में समय लगेगा, आधे घंटे से पहले चाय नहीं मिलेगी।*"

हम तीनों वहीं खड़े होकर इंतज़ार करने लगे और आपस में बातें कर रहे थे। चारों तरफ सन्नाटा था। तभी अचानक खामोशी को चीरती हुई कुछ तोड़ने की आवाज़ खट-खट सुनाई दी। हम चौंक गए। नज़रें घुमाकर देखा तो सामने एक दुकान के पास चार-पाँच संदिग्ध लोग खड़े थे। ध्यान से देखा तो रोंगटे खड़े हो गए—वे लोग मिल-जुलकर किसी दुकान का ताला तोड़ रहे थे।

हम डरते-डरते पास गए तो माजरा कुछ और ही निकला। वे चोर नहीं, बल्कि मुसीबत के मारे आम यात्री थे। पता चला कि सुलभ शौचालय के कर्मचारी ने ताले की चाबी कहीं खो दी थी और अंदर जाने की

'आपातकालीन' ज़रूरत ने लोगों को ताला तोड़ने पर मजबूर कर दिया था।

नज़ारा बड़ा दिलचस्प था। ताला काफी मजबूत था। एक भारी-भरकम शरीर वाले सज्जन हाथ में ईंट लेकर उसे तोड़ने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन ताला टस-से-मस नहीं हो रहा था। पीछे खड़ी भीड़ कमेंट्री करने में लगी थी— *"अरे मारा मरदवा! कस के मारा!" "अरे अइसे ना टूटी! केहू हथौड़ी लाओ हो!"*

मोटे भाई साहब ने पूरी जान लगाकर ईंट दे मारी। नतीजा? ईंट के दो टुकड़े हो गए, पर ताले को खरोंच तक नहीं आई। उनकी हालत देख लग रहा था कि उनका सब्र (और कंट्रोल) अब जवाब दे रहा है। तभी एक दूसरे व्यक्ति ने समझदारी दिखाई। उसने पास पड़ा एक भारी पत्थर (पटवार) उठाया और एक ही सटीक वार किया—खटाक! ताला टूटकर नीचे जा गिरा। ताला टूटते ही भीड़ ऐसे दौड़ी जैसे किसी खजाने का द्वार खुल गया हो। खैर, हम तीनों ने भी राहत की सांस ली और तरोताजा होकर बाहर निकले।

ताजगी तो मिल गई, लेकिन असली चुनौती अब सामने थी। काशी विश्वनाथ मंदिर से एक किलोमीटर पहले ही श्रद्धालुओं की लंबी कतार लगी हुई थी। लाइन देखकर राहुल के होश उड़ गए, बोला, *"भाई, आज तो बाबा के दर्शन शाम तक ही हो पाएंगे।"*

हमने सोचा लाइन में लगने से पहले चाय पी ली जाए। पास की दुकान पर भीड़ तो बहुत थी, लेकिन चाय ने निराश किया। वो स्वाद ही नहीं था; लगा ही नहीं कि हम बनारस में चाय पी रहे हैं। खैर, फीकी चाय पीकर हम गोदौलिया चौराहे की ओर बढ़े।

सड़कों का मंज़र अद्भुत था। लोग कल रात से ही लाइनों में लगे थे, कई तो वहीं सड़क किनारे सो रहे थे क्योंकि कल मंदिर के कपाट बंद हो जाने से उनके दर्शन नहीं हो पाए थे।

चलते-चलते हम दशाश्वमेध घाट पहुँच गए। घड़ी में रात के तीन बज रहे थे। घाट पर पहुँचते ही गंगा जी की ठंडी हवा ने स्वागत किया, जिससे सारी थकान मिट गई। घाट पर ज्यादा भीड़ नहीं थी, लेकिन कुछ श्रद्धालु, विशेषकर दक्षिण भारत से आए लोग, उस ब्रह्म मुहूर्त में स्नान कर रहे थे। चूंकि माघ का पवित्र समय था, इसलिए स्नान का महत्व और बढ़ गया था।

मैं (अभिषेक) मूलतः वाराणसी का ही रहने वाला हूँ, इसलिए मुझे घाटों की अच्छी समझ थी। मैंने दोस्तों को भीड़-भाड़ से दूर एक सुरक्षित और उचित स्थान बताया जहाँ हम आराम से नहा सकें। हम तीनों ने अपना सामान रखा और गंगा स्नान की तैयारी करने लगे।

स्नान की बारी आई तो तय हुआ कि पहले पियुष और राहुल डुबकी लगाएंगे और मैं (अभिषेक) उनकी फोटो खींचूंगा। लेकिन जैसे ही हम पानी के करीब गए, माघ महीने की उस कड़ाके की ठंड का असली अहसास हुआ। रात के सन्नाटे में गंगा का जल बर्फ की तरह काट रहा था। पानी की शीतलता देखकर राहुल की हिम्मत जवाब दे गई। उसने तो साफ़ मना कर दिया, *"भाई, मुझसे न हो पाएगा!"*

तब मैंने और पियुष ने एक-दूसरे को देखा, गहरी सांस ली और "हर हर महादेव" का जोरदार जयकारा लगाते हुए सीधे गंगा जी में छलांग लगा दी। हमारी देखा-देखी और भक्ति के जोश में आखिरकार राहुल भी कूद पड़ा। उस ठिठुरती ठंड में आस्था की डुबकी लगाकर तीनों तरोताजा हो गए।

तैयार होने के बाद गंगा घाट का नज़ारा देखा तो मन मोह गया। भोर की हल्की लाली और शांत बहती गंगा—सब कुछ अद्भुत था।

अब बारी थी मंदिर जाने की। मैंने अपने अनुभव का इस्तेमाल किया और सुझाव दिया, *"देखो, गोदौलिया वाले रास्ते पर बहुत भीड़ होगी। हम लोग गंगा द्वार चलेंगे। वहाँ खुली जगह है और ठंडी हवा सीधे लगती है, इसलिए इतनी सुबह वहाँ श्रद्धालु कम होंगे।"*

मेरा अनुमान बिल्कुल सटीक निकला। अभिषेक उन दोनों को लेकर गंगा द्वार की ओर बढ़ा। वहाँ उम्मीद के मुताबिक भीड़ न के बराबर थी। गेट सुबह चार बजे खुलने वाले थे। हम बिना वक्त गंवाए लाइन में सबसे आगे जाकर खड़े हो गए। हम जानते थे कि यह मौका है; अगर यहाँ थोड़ी भी सुस्ती दिखाई, तो फिर दर्शन में बहुत 'अबेर' (देर) हो जाएगी और दिन चढ़ते ही भीड़ बढ़ जाएगी।

गंगा द्वार पर खड़े होना एक अलग ही अनुभव था। गंगा जी के ऊपर से आती हुई बर्फीली हवाएँ सीधे शरीर पर लग रही थीं। स्नान करके निकले श्रद्धालु ठंड से कांप रहे थे, दाँत किटकिटा रहे थे, लेकिन उनकी जुबान पर कंपन नहीं, बल्कि 'हर-हर महादेव' का ओजस्वी उद्‌घोष था। आस्था, ठंड पर भारी पड़ रही थी।

चूंकि मंदिर के अंदर कोई भी सामान या इलेक्ट्रॉनिक वस्तु ले जाना मना है, इसलिए सबसे पहली चुनौती लॉकर की थी। ठीक चार बजे, जैसे ही गेट खुला और सुरक्षाकर्मियों ने रस्सा हटाया, वहां मौजूद भीड़ में एक अघोषित दौड़ शुरू हो गई। हम तीनों ने भी अपनी पूरी ताकत लगाकर लॉकर काउंटर की तरफ दौड़ लगा दी।

हमारी फुर्ती काम आई। लॉकर की लाइन लंबी तो थी, लेकिन दौड़कर पहुंचने के कारण हम काफी आगे थे; हमारे आगे बमुश्किल दस लोग रहे होंगे। जल्दी ही हमारा नंबर आ गया। हमने अपने बैग और मोबाइल जमा किए, टोकन लिया और राहत की सांस ली।

लॉकर के चक्कर में हम मुख्य कतार में थोड़ा पीछे हो गए थे, क्योंकि भीड़ बढ़ती जा रही थी। लेकिन वहां खड़े होकर गंगा द्वार का जो दृश्य

दिख रहा था, उसने सारी थकान मिटा दी। घड़ी में सुबह के चार बज चुके थे। भोर की हल्की रोशनी, गंगा का शांत प्रवाह और हजारों कंठों से निकलता 'हर-हर महादेव' का सामूहिक स्वर—यह सब मिलकर एक अलौकिक समां बांध रहे थे। हम तीनों मन ही मन विचार कर रहे थे कि ऐसा सौभाग्य बड़े भाग्य से मिलता है। हम धन्य थे।

लाइन में खड़े-खड़े मैंने आसपास देखा तो एक अद्भुत नज़ारा दिखा। वहां सिर्फ भीड़ नहीं थी, बल्कि लघु भारत उमड़ा हुआ था। कोई मराठी बोल रहा था, तो कोई गुजराती; दक्षिण भारत से आए लोग अपनी पारंपरिक वेशभूषा में थे, तो कोई सुदूर पूर्व से था। भाषाएं अलग थीं, पहनावा अलग था, लेकिन सबका गंतव्य एक था—विश्वनाथ का दरबार। काशी की उस सुबह में वास्तव में संपूर्ण भारत के दर्शन हो रहे थे।

कतार रेंगते हुए आगे बढ़ रही थी। नीचे का पत्थर का फर्श बर्फ की सिल्ली जैसा ठंडा था। नंगे पैर उस पर पड़ते ही सुन्न (कठुआ) हो रहे थे, लेकिन भक्तों के उत्साह में कोई कमी नहीं थी। 'हर-हर महादेव' के जयकारों की गर्मी ने ठंड को भी हरा दिया था।

कड़ी सुरक्षा जाँच और चेकिंग के बाद आखिरकार हमें मंदिर के अंदर प्रवेश मिला। अलग-अलग दिशाओं से आ रही कतारें वहां मिल रही थीं। हमने बाबा के दर्शन किए, लेकिन मन को अभी पूरी तृप्ति नहीं मिली थी। हमारी इच्छा उस प्राचीन नंदी के दर्शन करने की थी, जो सदियों से ज्ञानवापी की ओर मुख करके अपने आराध्य की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पियुष ने वहां तैनात एक पुलिसकर्मी से विनती की, *"भैया, हमें उस तरफ जाकर नंदी जी के दर्शन करने हैं, कृपया जाने दीजिए।"* लेकिन सुरक्षा कारणों से पुलिसकर्मी ने साफ इनकार कर दिया।

आम तौर पर लोग मना करने पर मान जाते हैं, लेकिन पियुष और अभिषेक मिट्टी के बने नहीं थे। हमने ठान लिया कि चाहे जो हो, नंदी जी

के दर्शन किए बिना वापस नहीं जाएंगे। यहाँ राहुल का वही पुराना हाल था—वह घबराने लगा। उसे हमेशा पकड़े जाने या डांट पड़ने का डर लगा रहता है। उसने कहा, *"छोड़ो यार, चलते हैं, क्यों पंगा लेना?"* लेकिन हमने उसे समझाया, *"अरे पागल, काशी बार-बार आने का मौका नहीं मिलता। जब इतनी दूर आए हैं, तो भगवान को जी-भरकर देखकर ही जाएंगे। तू बस साथ चल।"* बड़ी मुश्किल से वह तैयार हुआ।

अब समस्या थी कि वहां पहुंचें कैसे? तभी हमारी नज़र एक दूसरी कतार पर पड़ी जो ज्ञानवापी की ओर से मंदिर प्रांगण में आ रही थी। पियुष, जो स्वभाव से निडर है और जिसे 'लोग क्या कहेंगे' की रत्ती भर परवाह नहीं होती, उसका तर्क सीधा था—*"जब वीआईपी लोग घंटों अंदर रुककर दर्शन कर सकते हैं, तो हम भक्त क्यों नहीं?"*

पियुष ने पहल की। मौका देखते ही वह रेलिंग के नीचे से झुका और उस दूसरी लाइन में घुस गया। उसकी देखा-देखी मैं और राहुल भी फटाफट रेलिंग के नीचे से निकलकर उस कतार में शामिल हो गए।

दोबारा चेकिंग हुई और हम ज्ञानवापी क्षेत्र की ओर बढ़े। वहां का माहौल गंभीर था। प्राचीन शिवलिंग को सुरक्षा घेरों और पर्दे के पीछे रखा गया था, जिसे देखकर मन में एक टीस उठी कि वामपंथी सोच और ऐतिहासिक विवादों ने सत्य को कैसे ढकने का प्रयास किया। खैर, हमने वहीं से उस स्थान को नमन किया।

और फिर, वो अद्भुत दृश्य दिखा—प्राचीन नंदी महाराज! सदियों से एक ही दिशा में टकटकी लगाए बैठे नंदी। उनके दर्शन करके और फिर दोबारा बाबा विश्वनाथ की ज्योतिर्लिंग छवि को निहारकर, लगा जैसे जीवन सफल हो गया। इस बार दर्शन की पूर्णता का अनुभव हुआ।

बाबा के दर्शन के बाद हम मंदिर परिसर का मुआयना करने लगे। वहां की भव्यता तो अद्भुत थी, लेकिन एक चीज़ ने दिल को गहरी चोट पहुंचाई। हमने महसूस किया कि भगवान के दरबार में भी 'वीआईपी

कल्चर' हावी है। कुछ विशेष रास्तों पर आम श्रद्धालुओं को जाने की मनाही थी, लेकिन अगर आप 'दक्षिणा' (पैसे) दें या वीआईपी पास हो, तो दरवाजे खुल जाते थे।

यह देखकर मुझे और पियुष को गहरा धक्का लगा। मन में सवाल कौंध गया—*क्या धार्मिक स्थलों को भी अब बिजनेस बना दिया गया है? क्या भगवान के पास जाने के लिए भी अमीर और गरीब का भेद होगा?* यही नहीं, मंदिर के अगल-बगल कई तरह की 'राजशाही' खाने-पीने की दुकानें बना दी गई थीं। वह सारा क्षेत्र श्री काशी विश्वनाथ मंदिर का हिस्सा था। हम सोच रहे थे कि इन महंगी दुकानों की जगह अगर थके हुए श्रद्धालुओं के बैठने के लिए कोई स्थान या धर्मशाला बनाई जाती, तो कितना अच्छा होता। आज भी भीड़ के कारण भक्त सही से दर्शन नहीं कर पाते, ऐसे में इस जगह का उपयोग उनके सुगम दर्शन या विश्राम के लिए हो सकता था, न कि व्यापार के लिए।

खैर, भारी मन से हम आगे बढ़े। मैंने पियुष से कहा, *"बाबा के दर्शन तो हो गए, अब काशी की अधिष्ठात्री देवी माता अन्नपूर्णा के दर्शन भी कर लेते हैं।"* पियुष तुरंत तैयार हो गया।

इतनी भारी भीड़ के बावजूद हमें एक रास्ता ऐसा दिखा जो माता अन्नपूर्णा के मंदिर की ओर जा रहा था और आश्चर्यजनक रूप से वह खाली था। कोई भी श्रद्धालु उधर जाता नहीं दिख रहा था। हमें थोड़ा संदेह हुआ।

तसल्ली करने के लिए पियुष ने वहां खड़े एक पुलिसकर्मी से पूछा, *"भैया, माता अन्नपूर्णा जी के मंदिर जाने का रास्ता किधर से है?"* पुलिसकर्मी का जवाब सुनकर हमारी उम्मीदों पर पानी फिर गया। उसने रूखे स्वर में कहा, *"उधर मत जाओ। भीड़ बहुत ज्यादा है, इसलिए आज माता का मंदिर बंद कर दिया गया है। आज दर्शन नहीं होंगे।"*

यह सुनकर हमें बहुत गुस्सा आया और हैरानी भी हुई। क्योंकि जब हम काशी विश्वनाथ मंदिर के अंदर थे, तब एक दूसरे पुलिसकर्मी ने हमें भरोसा दिलाया था कि *"हाँ, इस रास्ते से चले जाओ, माता के दर्शन हो जाएंगे।"* प्रशासन के इस विरोधाभास और गलत जानकारी ने हमें बहुत निराश किया। हम असमंजस में थे कि एक ही व्यवस्था के दो लोग अलग-अलग बात कैसे कर सकते हैं? पर हकीकत यही थी कि माता के द्वार हमारे लिए बंद थे।

भीड़ का दबाव ऐसा था कि अब पीछे मुड़कर वापस जाना नामुमकिन था। हमारा लॉकर (सामान) पीछे रह गया था, लेकिन बहाव हमें आगे ले जा रहा था। मजबूरन, हमें भीड़ के साथ आगे बढ़ना पड़ा।

हम बनारस की उन प्रसिद्ध, पतली-पतली गलियों से गुजर रहे थे। वहां चलते हुए एक अद्भुत और अलौकिक अनुभव हो रहा था। इन संकरी गलियों में गाड़ियों का शोर नहीं था। वहां का माहौल देखकर ऐसा लग रहा था मानो हम 21वीं सदी में नहीं, बल्कि किसी प्राचीन कालखंड में आ गए हों। वहां का ठहराव और सुकून इतना गहरा था कि मन में बस यही विचार आया—*काश, मैं यहीं बनारस में ही बस जाऊँ और जीवन यहीं बिता दूँ।*

चलते-चलते अचानक सामने माँ गंगा का विशाल पाट नज़र आया। गली से बाहर निकलते ही हम दशाश्वमेध घाट पर पहुँच गए। नज़ारा पूरी तरह बदल चुका था। कुछ घंटे पहले जहाँ सन्नाटा था, अब वहाँ 'कुंभ स्नान' (माघ स्नान) के कारण तिल रखने की भी जगह नहीं थी। आस्था का वह जनसैलाब देखने लायक था।

लेकिन हमारे लिए असली चुनौती अब शुरू हुई। हमें अपने बैग लेने के लिए वापस गंगा द्वार (जहाँ लॉकर था) जाना था। वहां पहुंचे तो देखा कि लॉकर काउंटर के बाहर श्रद्धालुओं की भीड़ खचाखच भरी हुई है।

लाइन इतनी लंबी थी कि अगर हम ईमानदारी से लाइन में लगते, तो बैग वापस मिलते-मिलते दोपहर हो जाती।

"अब क्या करें?" यह सवाल हम तीनों के चेहरों पर था। तभी अभिषेक और पियुष की नज़र भीड़ के बगल से जाते हुए एक पतले और सूनसान रास्ते पर पड़ी। हमें लगा कि यह शॉर्टकट हो सकता है। लेकिन ऊपर चढ़ने का रास्ता साफ़ नहीं दिख रहा था।

यहाँ हमारी राय बंट गई। पियुष और राहुल ने कहा, *"यार, यहाँ से रिस्क नहीं लेते। हम लाइन की शुरुआत वाली जगह से चढ़ने की कोशिश करते हैं।"* और वे दोनों उधर चले गए। लेकिन मुझे (अभिषेक) अपनी अंतरात्मा पर भरोसा था। मैंने कहा, *"नहीं, मैं यहीं से रास्ता ढूँढ लूँगा।"* और वही हुआ। थोड़ी मशक्कत के बाद मुझे वहीं से ऊपर चढ़ने का रास्ता मिल गया और मैं लॉकर काउंटर के पास पहुँच गया।

लेकिन ऊपर पहुँचते ही एक डर ने जकड़ लिया। हम तीनों के फ़ोन बैग में थे। मेरे पास उनसे संपर्क करने का कोई जरिया नहीं था। *अगर वे रास्ता भटक गए तो? मैं उन्हें कैसे बुलाऊँगा?* हड़बड़ी करने के बजाय मैंने धैर्य से काम लिया। मैंने सोचा, *"वे लोग भी लॉकर के लिए इसी रास्ते पर आएंगे।"* मैं वहीं एक कोने में खड़ा होकर प्रतीक्षा करने लगा। वो दस मिनट किसी पहाड़ जैसे लगे। लेकिन अंततः, दस मिनट बाद वे दोनों भी भीड़ को चीरते हुए वहाँ आ ही गए और मेरी जान में जान आई।

हम जिस चोर-रास्ते से चढ़े थे, उसे देखकर अन्य श्रद्धालु भी देखा-देखी उसी रास्ते पर आने लगे। देखते ही देखते वहाँ भीड़ जमा हो गई। स्थिति को बिगड़ते देख पुलिस ने मोर्चा संभाला और दर्शन के लिए जा रहे लोगों को सख्ती से रोककर वापस लौटाने लगे।

हम भी पुलिस के घेरे में आ गए। हमने तुरंत अपनी सफाई पेश की—अपना लॉकर टोकन दिखाया और पूरी स्थिति समझाई कि हम दर्शन

कर चुके हैं और सिर्फ अपना सामान लेने जा रहे हैं। हमारी बात और टोकन देखकर पुलिस ने हमें जाने दिया।

लेकिन असली मुसीबत अभी बाकी थी। नीचे लाइन में लगे सैकड़ों श्रद्धालुओं को लगा कि हम कोई वीआईपी हैं या जुगाड़ लगाकर बीच में से दर्शन करने जा रहे हैं। भीड़ का गुस्सा फूट पड़ा। लोग चिल्लाने लगे—*"ओए! इनको रोको! ये बीच में से कैसे जा रहे हैं?"*

माहौल तनावपूर्ण हो गया। तब हमने भीड़ की तरफ मुड़कर, हाथ में पकड़े टोकन लहराते हुए चिल्लाकर कहा, *"भाई साहब, शांत हो जाइये! हम दर्शन करके आ चुके हैं। हमारा बैग लॉकर में फंसा है, बस वही लेने जा रहे हैं।"* टोकन देखकर और हमारी बात सुनकर भीड़ का गुस्सा शांत हुआ। आखिरकार हम लॉकर काउंटर तक पहुँचे और अपने बैग वापस लिए।

बैग मिलते ही पियुष का दिमाग फिर चला। उसने सोचा कि भारी बैग ढोने से अच्छा है कि सिर्फ मोबाइल-पर्स निकालें और बैग वापस जमा कर दें। उसने लॉकर वाले से पूछा, *"भैया, क्या बैग वापस रख सकते हैं?"* लेकिन लॉकर वाले ने साफ़ मना कर दिया। अब हमारे पास अपने बैग लादकर चलने के अलावा कोई चारा नहीं था। हम सामान लेकर गंगा किनारे की ओर बढ़े।

हम गंगा द्वार की सीढ़ियों पर आकर खड़े हो गए। सामने का दृश्य मंत्रमुग्ध कर देने वाला था। पूर्व दिशा में सूर्योदय हो रहा था। आसमान में छाई लालिमा गंगा की लहरों पर प्रतिबिंबित हो रही थी, जिससे पूरा पानी सुनहरे और लाल रंग में चमक रहा था। यह दृश्य बिल्कुल वैसा था जैसा बचपन में मैं अपनी ड्राइंग की किताबों में देखा करता था। आज उसे हकीकत में देखकर पुरानी यादें ताज़ा हो गईं।

हमने तय किया कि इस नज़ारे को गंगा के बीच से देखा जाए। हम एक नाव वाले के पास गए। उसने कहा, *"भैया, सभी घाटों के दर्शन कराकर*

वापस यहीं छोड़ूँगा, सौ रुपये प्रति व्यक्ति लगेंगे।" सौदा पक्का हुआ और हम नाव में बैठ गए। गंगा के बीच ठंडी-ठंडी हवाएँ चल रही थीं जो रूह को सुकून दे रही थीं।

नाव चलते ही राहुल ने अपने घर वीडियो कॉल लगा लिया और उत्साह से सबको बनारस का नज़ारा दिखाने लगा। पियुष अपनी मोबाइल फोटोग्राफी में व्यस्त हो गया। लेकिन मैं (अभिषेक)... मैं बस शांत बैठकर उस दृश्य को पी रहा था। मेरी कोई और अभिलाषा नहीं थी।

हैरानी की बात थी कि मैं मूलतः वाराणसी का ही हूँ, लेकिन आज तक मैंने 'सुबह-ए-बनारस' का यह रूप नहीं देखा था। जब भी भोपाल से आता, तो दोपहर या शाम को ही घाट पर आना होता था। आज पहली बार अपनी ही नगरी का यह अद्भुत रूप देखकर मुझे एक अलग ही आनंद की अनुभूति हो रही थी। लगा जैसे आज मेरी काशी यात्रा पूर्ण हुई।

नाव में बैठते ही सबसे पहले हमें लाइफ जैकेट थमाए गए। जैकेट इतने गंदे और मटमैले थे कि उन्हें छूने का भी मन नहीं कर रहा था, पहनना तो दूर की बात थी। लेकिन नियम तो नियम है, मन मारकर उन्हें पहनना ही पड़ा। वैसे तो मैं पहले भी नाव की सवारी कर चुका था, लेकिन आज की बात कुछ और थी। आँखों में नींद भरी थी और शरीर थकान से चूर था। ठंडी हवा के झोंकों के साथ अब नींद और भी हावी होने लगी थी।

करीब एक घंटे की सैर के बाद नाव वाला हमें वापस गंगा द्वार की तरफ ले आया। वहां श्रद्धालुओं की भारी भीड़ थी और सुरक्षा के कड़े इंतज़ाम थे। घाट के पास पानी गहरा होने के कारण वहां नाव लाना मना था। जैसे ही हमारी नाव वहां पहुंची, किनारे खड़ा एक पुलिसवाला आगबबूला हो गया।

वह जोर से चिल्लाया, "*क्यों रे! मना किया था न इधर नाव लाने को? फिर ले आया? तेरी नाव अभी जब्त करता हूँ।*" वह डंडा लेकर मारने के लिए आगे बढ़ा ही था कि तभी नाव का मालिक वहां आ गया। उसने भी अपने ही कर्मचारी (नाव चालक) को डांटा—"*तुझे समझ नहीं आता? मेरी नाव बंद करवाएगा क्या?*" फिर उसने पुलिसवाले से हाथ जोड़कर माफ़ी मांगी, "*साहब, गलती हो गई, माफ़ कर दो।*" पुलिसवाले ने हड़काते हुए कहा, "*जल्दी हटा यहाँ से!*" नाव वाले ने हड़बड़ाहट में चप्पू चलाया और नाव मोड़ने लगा।

नाव मुड़ ही रही थी कि सामने से एक छोटी डोंगी आती दिखी। उसे एक चौदह साल का लड़का चला रहा था। नज़दीक आते देख मुझे आभास हो गया था कि टक्कर पक्की है। और वही हुआ—धप्प! उसकी नाव हमारी नाव से आ टकराई। गनीमत थी कि गति बहुत धीमी थी, इसलिए कोई नुकसान नहीं हुआ, बस नाव डगमगा गई। नाव वाला उस लड़के पर चिल्लाने लगा, जिसे सुनकर नाव में बैठे बाकी यात्रियों की हंसी छूट गई। लड़के ने बिना डरे फुर्ती से अपनी डोंगी मोड़ी और निकल गया।

अंततः नाव को बगल के घाट पर लगाया गया। ध्यान से देखा तो यह मणिकर्णिका घाट (महाशमशान) था। पास ही एक नाव से शव उतारा जा रहा था और सामने चिताएँ जल रही थीं—जीवन और मृत्यु का नंगा सच आँखों के सामने था।

हम उतरने ही वाले थे कि नाव में बैठी एक महिला बिफर पड़ी। चिताओं को देखकर वह शायद डर गई थी, इसलिए चिल्लाने लगी—"*अरे! ये कहाँ ले आए? हम यहाँ नहीं उतरेंगे! हमें दूसरे घाट पर उतारो! यहाँ मुर्दे जल रहे हैं!*" माहौल में अजीब सी हलचल मच गई। लेकिन हम तीनों को इन सब बातों से फर्क नहीं पड़ा। हमने उस आंटी की चीख-पुकार

को नजरअंदाज किया, नाव वाले को उसके पैसे थमाए और वहीं मणिकर्णिका घाट पर उतर गए।

मणिकर्णिका घाट पर कदम रखते ही जीवन का सबसे कठोर सत्य सामने था। सामने ही एक शव को गंगा जी में डुबोया जा रहा था, तो दूसरे शव को नाव में चढ़ाकर गंगा पार ले जाया जा रहा था। यह दृश्य देखकर मन में एक अजीब सी उदासी और 'रंज' (पीड़ा) भर गया।

चिताओं की लपटें इतनी तेज थीं कि उनकी गर्मी हमारे चेहरों तक आ रही थी। हवा में उड़ती हुई राख और धुएं ने माहौल को डरावना बना दिया था। मुझे अचानक एक अनजाना भय सताने लगा—ऐसा महसूस हुआ जैसे इस अग्नि की तीव्रता में कहीं मैं भी न झुलस जाऊँ। मन किया कि यहाँ से तुरंत भाग जाऊँ। हम वहां ज्यादा देर रुक नहीं पाए और उन पतली गलियों की ओर मुड़ गए।

गलियों में आकर थोड़ी राहत मिली। वहां एक छोटी सी चाय की दुकान पर हम रुके। दुकान क्या थी, मानो इतिहास का कोई पन्ना थी। बेहद संकरी जगह, जहाँ बमुश्किल दो लोग बैठ सकें। अंदर हल्की पीली रोशनी थी और मिट्टी की अंगीठी में कोयले दहक रहे थे। उस मद्धम रोशनी और पुराने माहौल ने मुझे मेरे बचपन की याद दिला दी। दिल किया कि बस यहीं उस सुकून में खो जाऊँ। चाय के बाद हमने एक दुकान से 'बनारसी पान' खाया। स्वाद तो औसत था, लेकिन रस्म पूरी हो गई।

अब थकान अपनी चरम सीमा पर थी। शरीर जवाब दे चुका था और पलकें बोझिल हो रही थीं। अब न घूमने की हिम्मत थी, न बात करने की; बस एक ही चाहत थी—नींद।

तभी सामने एक गेस्ट हाउस का बोर्ड दिखा। हम उम्मीद लेकर वहां पहुंचे। माहौल बिल्कुल घरेलू था—रिसेप्शन पर कोई नहीं था, बस एक महिला आराम से मंजन कर रही थी। वहां लिखे नंबर पर मैंने कॉल

किया। सोचा कि स्थानीय हूँ, तो 'बनारसी बोली' में बात करूँ तो शायद काम बन जाए और कमरा मिल जाए। मैंने ठेठ बनारसी में बात की, लेकिन मेरा यह पैंतरा काम नहीं आया। जवाब मिला—"कोई कमरा खाली नहीं है।"

निराश होकर हम बाहर आ गए। अब नींद के साथ-साथ भूख भी सताने लगी थी। कहते हैं न, जब पेट खाली हो तो दिमाग भी चलना बंद कर देता है। हम बेसुध होकर चल रहे थे। एक इलेक्ट्रिक ऑटो वाले से 'आशापुर' का किराया पूछा, तो उसने एक व्यक्ति का डेढ़ सौ रुपये मांग लिया। यह लूट सुनकर हमने पैदल चलना ही बेहतर समझा।

तभी सामने एक लिट्टी-चोखा की दुकान दिखी। भूख बर्दाश्त नहीं हो रही थी, इसलिए हमने एक प्लेट लिट्टी-चोखा ले लिया। स्वाद बिल्कुल फीका था, लेकिन मजबूरी थी। भूख मिटाने के लिए हम तीनों ने उसी एक प्लेट में से थोड़ा-थोड़ा खाकर अपने पेट को दिलासा दिया।

आगे बढ़ने पर एक ऑटो वाला अपनी गाड़ी साफ़ करता दिखाई दिया। इस बार हमने पहले ही रणनीति बना ली थी। दोस्तों ने कहा, *"अभिषेक, तू अपनी लोकल भाषा में बात कर। अगर हम हिंदी में बात करेंगे तो ये हमें बाहरी समझकर लूटने की कोशिश करेंगे।"*

मैं आगे बढ़ा और एकदम देसी अंदाज में पूछा, *"चाचा, आशापुर जाना है?"* उसने हमें ऊपर से नीचे तक देखा और बोला, *"डेढ़ सौ रुपये लगेंगे।"* मैंने तुरंत अपनी बनारसी टोन पकड़ी और कहा, "रहदा (रहने दो), बीस रुपया उहाँ तक का लागेला, हम आगे से ऑटो धर लेब।"

मेरा भोजपुरी में बोलना और सही किराया बताना काम कर गया। उसे समझ आ गया कि मैं यहीं का हूँ। वह तुरंत लाइन पर आया और तीस रुपये में ले जाने को तैयार हो गया। हम ऑटो में बैठे और सफर शुरू हुआ। सड़कों पर अभी भी भीड़ थी, इसलिए ऑटो गलियों से होकर

गुजरा। मैं ड्राइवर के बगल में बैठा था, और सामने से आती ठंडी हवा सीधे आँखों में लग रही थी, जिससे नींद और भी हावी हो रही थी।

कुछ देर बाद हम चंद्रा क्रॉसिंग पहुंचे। यहाँ उतरते ही मेरे चेहरे पर चमक आ गई। यहाँ एक पुराना मिष्ठान भंडार है, जहाँ मैं अक्सर भोपाल से आते वक्त नाश्ता करता था। मैं राहुल और पियुष को वहां ले गया। हमने दबाकर जलेबी और छोला-समोसा खाया और ऊपर से कड़क चाय पी। सच कहूँ तो पेट में अन्न जाते ही जान में जान आई। इससे पहले खाली पेट दिमाग ने काम करना बंद कर दिया था, लेकिन नाश्ते के बाद शरीर में नई ऊर्जा दौड़ गई।

अब बारी थी मेरे गाँव जाने की। हम एक ऑटो वाले के पास गए। मैंने गाँव का नाम बताया तो वह हमें पकड़कर जबरदस्ती आगे (ड्राइवर सीट के बगल में) बैठाने लगा। हमने पहले ही ठान लिया था कि आगे नहीं बैठेंगे। एक तो नींद आ रही थी, ऊपर से ठंड और गिरने का डर। हमने साफ़ मना किया, "*भैया, आगे नहीं बैठेंगे, नींद आ रही है, पीछे ही बैठेंगे।*" लेकिन पीछे पहले से सवारियां थीं।

हम वहां खड़े ही थे कि तभी दूसरे ऑटो वाले ने आवाज़ दी, "कहाँ जईबा लोगन?" मैंने गाँव का नाम बताया और पूछा, "कितना लेबा?" उसने कहा, "तीस रुपया।"

हम तुरंत उसके ऑटो में जा बैठे। यह देखते ही पहले वाला ऑटो वाला भड़क गया। वह दूसरे वाले के पास आया और धमकाने लगा, "हमरे सवारी के लेत हअ? अच्छा न होई... (मेरी सवारी क्यों ले रहा है, अच्छा नहीं होगा)।" दूसरा ऑटो वाला उसकी धमकी से डर गया और हमसे बोला, "*भैया लोग, आप उनके ऑटो में चले जाइये।*"

लेकिन अब हमारी ज़िद थी। हमें उसकी दादागिरी पसंद नहीं आई। हमने कड़े शब्दों में कहा, "*नहीं जाएंगे! हमारी मर्जी, हम किसी भी ऑटो से जाएं। हमें आगे नहीं बैठना है मतलब नहीं बैठना है।*"

जब पहले वाले ने देखा कि हम टस-से-मस नहीं हो रहे, तो वह नरम पड़ा और बोला, *"अच्छा आओ, मैं पीछे बैठाता हूँ।"* लेकिन हमें अब उस पर गुस्सा आ चुका था। हमने साफ़ मना कर दिया और दूसरे वाले के ऑटो में ही डटे रहे। हारकर वह चला गया, लेकिन जाते-जाते उसका डर दूसरे ऑटो वाले पर हावी था। उसने हमसे कहा, *"भैया, वो निकल जाए, उसके बाद ही चलेंगे।"* हमने भी कहा, *"ठीक है, कोई जल्दी नहीं।"*

ऑटो वाला अभी भी डरा हुआ था। उसने साफ़ कर दिया कि जब तक सवारी पूरी नहीं होगी, वह ऑटो आगे नहीं बढ़ाएगा। हमने उसे ढांढस बंधाया, *"डरने की ज़रूरत नहीं है भाई, सवारी भर लो फिर चलते हैं।"* तभी दो महिलाएं आईं और ऑटो में बैठ गईं। उन्हें थोड़ा ही आगे जाना था, लेकिन जगह की कमी के कारण हममें से एक को आगे ड्राइवर के बगल में बैठना पड़ा। न चाहते हुए भी बैठना ही पड़ा।

ऑटो चला तो उन महिलाओं की बातें कानों में पड़ने लगीं। वे आपस में चर्चा कर रही थीं—*"अरे, यहीं पुलिया के नीचे परसों एक लड़का कट के मर गया। आज तो सुना है उसका सिर (मुड़िया) ही कटकर अलग हो गया।"* सफर की शुरुआत में ही ऐसी मनहूस और डरावनी बातें सुनकर मन में अजीब सी सिहरन हुई। हम बस चुपचाप उनकी बातें सुनते रहे। खैर, उनका स्टॉप आया और वे उतर गईं। हम तीनों ने राहत की सांस ली और पीछे की सीट पर आ गए।

अब ऑटो रफ़्तार में था। बाहर से आती ठंडी हवा कानों में 'सर-सर' कर रही थी, जिससे सिहरन तो हो रही थी, लेकिन नींद भी उतनी ही तेज़ आ रही थी। आँखें कभी बंद होतीं, तो कभी झटके से खुल जातीं। रास्ते का नज़ारा बेहद खूबसूरत था। सड़क के किनारे गेहूँ की बालियाँ और पीली-पीली सरसों के खेत प्रकृति की सुंदरता बढ़ा रहे थे। हल्का कोहरा छाया था और धूप बेअसर थी।

कुछ ही देर में हम गाँव की सीमा में दाखिल हुए। मेन रोड टूटी हुई थी, गाड़ी चलने पर धूल का गुबार उड़ रहा था। लेकिन वहाँ एक अजीब सी शांति थी—ऐसी खामोशी मानो कानों में रुई ठूँस दी गई हो। शहर के शोर के बाद यह सन्नाटा सुकून देने वाला था। जैसे-जैसे घर नज़दीक आ रहा था, मुझे अपने बचपन के दिन याद आने लगे।

घर पहुंचे तो वहां महफ़िल जमी हुई थी। मिथुन, सचिन और हरिओम पहले से मौजूद थे। सचिन और गाँव का एक लड़का, शिवम, द्वार पर ही आग जलाकर 'बाटी' (लिट्टी) सेंकने की जुगत में लगे थे। ठंड के कारण कंडे (उपले) गीले हो गए थे, इसलिए वे ठीक से जल नहीं रहे थे। बस धुआँ निकल रहा था, जिससे सचिन और शिवम की आँखों से आँसू बह रहे थे।

हमने उनसे मुलाकात की, पानी पिया और बस एक ही बात कही—*"भाई, हमें बहुत नींद आ रही है।"* सुबह के ग्यारह बज रहे थे। हम सीधे छत पर चले गए। वहां नीम का एक बड़ा पेड़ था। पत्तों से छनकर आती हल्की-हल्की धूप बिस्तर पर पड़ रही थी। नीम की छाँव और वह शांत माहौल... लेटते ही हमें गहरी नींद आ गई।

करीब दो घंटे बाद, जब धूप सीधे चेहरे पर आने लगी, तो मेरी नींद खुली। उठते ही याद आया—*"अरे! कल तो प्रयागराज के लिए निकलना है और सारे कपड़े गंदे हैं।"* मैंने आलस छोड़ा और जल्दी-जल्दी अपने कपड़े धोकर छत पर फैला दिए।

तब तक नीचे से सचिन की आवाज़ आई, *"भैया, खाना तैयार हो गया है। अपने दोस्तों को भी उठा लो।"* खाने में दाल, बाटी और चोखा बना था। मैंने कहा, *"हम लोग छत पर ही खाएंगे, तुम यहीं ले आओ।"* मैं राहुल और पियुष के पास गया। वे अभी भी घोड़े बेचकर सो रहे थे। मैंने हिलाया, *"उठो यार, खाना खा लो।"* पियुष नींद में ही बड़बड़ाया, *"सोने दे न यार... अभी तो खाया था हम लोगों ने।"* (उसका इशारा चंद्रा

क्रॉसिंग पर खाए समोसे-जलेबी की तरफ था)। मैंने हंसते हुए कहा, *"अबे उठ जा, दाल-बाटी बनी है। पेट भर के खा ले।"* भूख और नींद के बीच झूलते हुए दोनों आँखें मलते हुए उठे। उनकी आँखें अभी भी लाल थीं, लेकिन 'बाटी-चोखा' का नाम सुनकर भूख जाग गई थी। तीनों ने हाथ धोए और पंगत लगाकर बैठ गए।

कुछ ही देर में सचिन, पियुष, छोटू और शिवम छत पर खाना ले आए। हम सबने वहीं पंगत लगाई और एक साथ खाने बैठ गए। भोजन में वो 'फाइव स्टार' वाली बात तो नहीं थी, अभी रसोइयों (सचिन और शिवम) को थोड़ा और सीखने की ज़रूरत थी, लेकिन उस खुले आसमान के नीचे दोस्तों के साथ खाने का स्वाद ही कुछ और था।

तभी हमारा एक और साथी, पुटपुट (अनूप) वहां आ धमका। हमने उसे भी साथ खाने का आग्रह किया, लेकिन उसने अपने ठेट अंदाज़ में कहा, "पहले तो लोगन खा, हमन जा के खा लेब।" छत पर हवा काफी तेज चल रही थी। हम खाने में मशगूल थे कि हवा के एक झोंके ने मेरा काम बिगाड़ दिया। मेरे बगल में रखा नमक का पत्तल उड़कर सीधे मेरी दाल में जा गिरा। दाल में नमक इतना ज्यादा हो गया कि एक कौर खाना भी मुश्किल था। यह देखकर सब हंसने लगे। खैर, मैंने ऊपर से और सादी दाल मिलाई, तब जाकर स्वाद संतुलित हुआ और भोजन का आनंद लिया। सच कहूँ तो उस सादे भोजन ने मन तृप्त कर दिया। हमारे खाने के बाद सचिन और बाकी साथियों ने भी भोजन किया।

खाने के बाद हम गाँव की सैर पर निकले। घर के पास ही एक पुराना मुर्गी फार्म था जो अब बंद पड़ा था। उसके बगल में गन्ने का खेत लहलहा रहा था। गाँव में हों और गन्ना न खाएं, यह कैसे हो सकता है? छोटू ने खेत से ताजे गन्ने तोड़े और हम सब घर के पीछे वाली सड़क पर बैठकर गन्ने चूसने लगे। गन्ने की मिठास के साथ-साथ आगे की योजना भी बनने

लगी। तय हुआ कि शाम को दोबारा बनारस चलेंगे और इस बार गंगा आरती देखेंगे।

शाम होते-होते हम तीनों तैयार थे। लेकिन अब कारवां बढ़ गया था— सचिन के साथ मिथुन और हरिओम भी जाने की ज़िद करने लगे। अब समस्या सवारी की थी। तभी गाँव के एक लड़के, जिसे सब 'पंडित' कहते हैं, ने अपनी जुगाड़ गाड़ी यानी 'डाला' (सामान ढोने वाला छोटा पिकअप) की पेशकश की। उसने कहा, *"इसमें चलते हैं, बस पेट्रोल डलवा देना।"* रोमांच के लिए हम सब राजी हो गए।

हम सब 'डाला' के पीछे वाले हिस्से में खड़े हो गए। पंडित ने गाड़ी स्टार्ट की और ऐसा झटका दिया कि हम सब एक-दूसरे के ऊपर गिरते-गिरते बचे। हमने किनारों को कसकर पकड़ लिया। गाड़ी सड़कों पर दौड़ने लगी। शाम का वक़्त था, सूरज धीरे-धीरे लाल होकर पहाड़ियों (या क्षितिज) में समा रहा था। खुले डाला में ठंडी हवा के थपेड़े लग रहे थे जिससे शरीर में सिहरन तो हो रही थी, लेकिन मन में गजब का उमंग था। आस-पास हरियाली और ढलते सूरज का नज़ारा मनमोहक था।

घूमते-घूमते हम नमो घाट पहुंचे। यह घाट बिल्कुल नया बना था। वहां पार्किंग की जगह नहीं थी, इसलिए गाड़ी थोड़ी दूर रोकनी पड़ी। अंदर जाकर देखा तो घाट बेहद खूबसूरत और आधुनिक था। वहां कई 'सेल्फी प्वाइंट' बने थे, जहाँ लोग फोटो खिंचवाने में व्यस्त थे। हमने भी वहां एक-दूसरे की कुछ तस्वीरें लीं।

घड़ी देखी तो शाम होने वाली थी। आरती का समय छह **से** सात **बजे तक होता है। हमने पंडित से कहा कि अब आरती वाले घाट (दशाश्वमेध) की तरफ चलो। लेकिन पंडित ने हाथ खड़े कर दिए। उसने बताया, *"भाई, वहां तक गाड़ी नहीं जा पाएगी। जाम बहुत होता है और गाड़ियां बैन हैं। यहाँ से पैदल ही जाना पड़ेगा।"***

घड़ी देखी तो शाम के पाँच बजकर पैंतालीस मिनट हो रहे थे। आरती सात बजे समाप्त हो जाती है। हमारे पास दशाश्वमेध घाट पहुँचने के लिए मुश्किल से पंद्रह मिनट बचे थे। सवाल यह था कि इतनी जल्दी वहाँ पहुँचेंगे कैसे? अभिषेक ने सुझाव दिया, *"नाव कर लेते हैं, सामने से नज़ारा भी अच्छा दिखेगा और जल्दी पहुँच जाएंगे।"* हम एक नाव वाले के पास गए, लेकिन उसने दो सौ रुपये मांगे। इतने कम समय के लिए यह किराया हमें ज्यादा लगा। हमने नाव का विचार त्यागा और तय किया—"दौड़कर ही जाएंगे!"

और फिर शुरू हुई हमारी मैराथन। राजघाट के पीछे वाली सड़क से होते हुए हम घाटों की श्रृंखला पर आ गए। रास्ता सीधा नहीं था। कभी लंबी-लंबी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़तीं, तो कभी ऊँचे चबूतरों से कूदना पड़ता। गाय घाट पहुँचते-पहुँचते हमने देखा कि वहाँ भी आरती की तैयारी हो रही है। मेरा मन ललचाया, सोचा यहीं रुक जाते हैं, कम से कम आरती तो मिल जाएगी। अगर दशाश्वमेध पहुँचते-पहुँचते आरती खत्म हो गई, तो दौड़ना बेकार जाएगा।

लेकिन राहुल और पियुष का संकल्प अटूट था। उन्होंने कहा, *"नहीं भाई, चलेंगे तो वहीं। अगर दौड़कर भी नहीं पहुँच पाए, तो मैं भगवान से कट्टी हो जाऊँगा।"* उनकी बात ने जोश भर दिया। अब हम पागलों की तरह दौड़ रहे थे। माघ की उस कड़ाके की ठंड में, जहाँ लोग कांप रहे थे, हमारा शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था। लेकिन हार मानने का सवाल ही नहीं था। दिल और दिमाग में बस एक ही रट थी—"आज गंगा आरती देखनी है, मतलब देखनी है।"

दौड़ते-दौड़ते दूर से काशी विश्वनाथ कॉरिडोर के दो विशाल स्तंभ दिखाई दिए। मंज़िल अभी भी दूर थी, लेकिन वे स्तंभ उम्मीद की किरण थे। हमें संतोष हुआ कि मुख्य आरती अभी चल रही है, भीड़ का शोर सुनाई दे रहा था। हमने अपनी गति और बढ़ा दी। अब हमें सामने आने

वाली रुकावटों की परवाह नहीं थी। कभी किसी से धक्का लगता, कभी किसी से टकराते, कभी गिरने से बचते—हम बस हवा को काटते हुए आगे बढ़ रहे थे। एक घाट से दूसरे घाट जाने के लिए हम ऊँची सीढ़ियों से कूद रहे थे, बस इतना ध्यान रख रहे थे कि किसी को (या हमें) चोट न लगे।

मणिकर्णिका घाट पार किया, फिर गंगा द्वार और अंततः हम हाँफते हुए दशाश्वमेध घाट पहुँच ही गए। आरती अपने चरम पर थी। शंखनाद हो रहा था, घंटियाँ बज रही थीं और 'गंगा मैया की जय' के जयकारे गूंज रहे थे। हम भीड़ में शामिल हो गए और उस दिव्य दृश्य को अपनी आँखों में संजोने लगे। सारी थकान पल भर में गायब हो गई।

आरती समाप्ति के बाद प्रसाद बंटा। मन शांत हुआ तो हम वापस मणिकर्णिका घाट की ओर मुड़े। वहाँ का दृश्य आरती की चकाचौंध से बिल्कुल विपरीत था। चिताएँ जल रही थीं और भीड़ लगी थी। एक जगह तो दिल दहला देने वाला नज़ारा दिखा—जगह की इतनी कमी थी कि एक अधजली लाश को बुझाकर/हटाकर उसके ऊपर दूसरी चिता सजाई जा रही थी।

उस जलती हुई अग्नि को देखकर मुझे जीवन की नश्वरता का गहरा अहसास हुआ। लगा कि "एक न एक दिन मुझे भी यहीं जलना है। जब तक साँस है, बस प्रभु का नाम ले लो।" हमने देखा कि कुछ लोग एक शव को ऊपर की मंजिल (छत) की ओर ले जा रहे थे, जहाँ और भी चिताएँ जलती हैं। हम भी उत्सुकतावश उनके पीछे हो लिए। लेकिन सीढ़ियों पर खड़े एक व्यक्ति ने हमें रोक दिया। उसने कहा, *"सौ रुपये दो, तभी ऊपर जाने मिलेगा।"* मौत के इस पड़ाव पर भी वसूली देखकर मन खट्टा हो गया। हमने कहा, *"रहने दो भाई, हम इतना पैसा नहीं देंगे।"* और हम नीचे उतर आए।

अब हमें अपने बाकी साथियों (सचिन और ग्रुप) का इंतज़ार था। वे लोग अस्सी घाट की तरफ थे और उन्हें आने में समय लगने वाला था। हम वहीं बैठकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे। उनके आने के बाद अब हमारा अगला पड़ाव था—काशी के कोतवाल, बाबा काल भैरव का मंदिर।

पतली गलियों से होते हुए हम काल भैरव मंदिर के पास पहुंचे। हमारे साथी 'पंडित' की जान-पहचान वहां के एक मिठाई वाले से थी, जो मंदिर का प्रसाद बनाते थे। उन्होंने अपने रसूख का इस्तेमाल किया और हमें वीआईपी तरीके से दर्शन कराने की व्यवस्था कर दी।

लेकिन सच कहूँ तो यह 'वीआईपी कल्चर' हमें बिल्कुल रास नहीं आया। हम तीनों (मैं, राहुल और पियुष) आपस में फुसफुसाए। पियुष का मन नहीं माना, बोला—*"यार, मुझे अच्छा नहीं लग रहा। देखो, लोग कितनी लंबी लाइनों में घंटों से खड़े हैं और हम बीच में घुसकर दर्शन करेंगे? इससे तो अच्छा है दर्शन ही न करें।"* हमने मना करने की कोशिश की, लेकिन हमारे साथी नहीं माने। उन्होंने हमें भीड़ के बीच से निकाला और सीधे भगवान के सामने खड़ा कर दिया। दर्शन तो हो गए, लेकिन मन में एक कसक रह गई। वहां से निकलकर हम मृत्युंजय महादेव मंदिर गए। वहां शिवलिंग के हर रूप के दर्शन हुए और हमने धन्वन्तरि कूप (कुएं) का जल पिया, जिसे अमृत समान माना जाता है।

अब समस्या पेट पूजा की थी। मैंने चाची को पहले ही फोन करके मना कर दिया था कि भोजन न बनाएं, हम बाहर खाकर आएंगे। लेकिन घड़ी में रात के दस बज चुके थे। सर्दियों की रात और बनारस का जल्दी सो जाने वाला मिज़ाज—आधा शहर बंद हो चुका था। हमने पंडित से कहा, *"भाई, किसी अच्छे ढाबे पर ले चलो।"* थोड़ी देर में हम एक ढाबे पर पहुंचे। हम सब खुश होकर कुर्सी पर बैठे, लेकिन जैसे ही वेटर ने मेन्यू कार्ड हाथ में थमाया, हमारे होश उड़ गए।

राहुल और पियुष ने मुझे पास बुलाया और धीरे से बोले, "*अभिषेक, रेट देख रहा है? बहुत महंगा है यार। हमारा बजट इतना नहीं है। जितने का यहाँ एक बार खाना खाएंगे, उतने में तो हमारी पूरी यात्रा का खर्चा निकल जाएगा।*" बात सौ टका सच थी। मैंने संकोच छोड़ा और पंडित से साफ़ कह दिया, "*भाई, हमारा बजट इतना महंगा खाना खाने का नहीं है। तुम लोग यहाँ खा लो, हम लोग कहीं और कुछ हल्का खा लेंगे।*" पंडित और उसके दोस्त भी यारी में पक्के निकले। बोले, "*अगर तुम नहीं खाओगे, तो हम भी नहीं खाएंगे। चलो, कहीं और देखते हैं।*" और हम सब वहां से बाहर निकल आए।

लेकिन बाहर आकर पता चला कि बनारस, भोपाल नहीं है। इतनी जल्दी पूरा बाज़ार और ढाबे बंद हो चुके थे। हमें एक भी खुली दुकान नहीं मिली। अब राहुल और पियुष मुझ पर बरस पड़े। वे बोले, "*तुझे ऐसे सबके सामने नहीं बोलना चाहिए था। अब वो लोग हमें क्या सोचेंगे? कि हम भूखे-नंगे हैं?*" मैं हंसा और कहा, "*अरे भाई, जब हमने बजट बनाया है तो उसी पर चलेंगे न। मुझे क्या पता था कि यहाँ दुकानें इतनी जल्दी बंद हो जाती हैं। भोपाल में तो रात भर कुछ न कुछ मिल ही जाता है।*"

भूख से हाल बेहाल था। आखिरकार, भटकते-भटकते हम जाल्हूपुर (वाराणसी) के एक छोटे से बाज़ार में पहुंचे। किस्मत से वहां एक दुकान बंद ही होने वाली थी। हमने उनसे विनती करके कुछ खाने को लिया और वहीं सड़क किनारे खाकर पेट को शांत किया।

वापस पंडित के घर पहुंचे तो रात के बारह बज रहे थे। लेकिन सफर की थकान और अधूरी भूख मिटाने के लिए रात के बारह बजे चाय बनी। सबने साथ में चाय-बिस्कुट खाया और तब जाकर दिन का समापन हुआ।

सुबह होते ही हम जल्दी में घर से निकले। योजना तो मारकंडेय महादेव जाने की थी, लेकिन समय की कमी को देखते हुए हमने सीधे वाराणसी

स्टेशन की ओर रुख किया। सुबह का वक्त था, मौसम सुहाना था, इसलिए हम पैदल ही चल पड़े।

रास्ते में पियुष अपने पुराने अंदाज में हंसी-मजाक करने लगा। दोस्तों के बीच ऐसी टांग-खिंचाई आम बात है, इसी 'ओपननेस' में पियुष ने राहुल से कुछ ठिठोली कर दी। लेकिन हमें अंदाज़ा नहीं था कि राहुल का मूड इतना खराब है। उसे पियुष की बात इतनी नागवार गुजरी कि उसने आव देखा न ताव, पियुष को खींचकर एक जोरदार तमाचा जड़ दिया।

'चटाक!' उस सन्नाटे में थप्पड़ की गूंज ने हम सबको सन्न कर दिया। मैं (अभिषेक) दंग रह गया। पियुष, जो अभी हंस रहा था, उसकी आँखों में आंसू तैर गए। माहौल एकदम से भारी हो गया। मैंने तुरंत स्थिति को संभाला और राहुल को डांटा, *"यार, तूने ये क्या किया? इतनी सी बात पर कोई हाथ उठाता है क्या?"*

पियुष भी रोते हुए बोला, *"तुझे बुरा लगा तो बोल देता, मारने की क्या ज़रूरत थी? हम भी तो मजाक करते हैं।"* मैंने देखा कि बात बिगड़ रही है और झगड़ा बढ़ सकता है। और झगड़ने का यह सही वक्त नहीं था। मैंने तुरंत उनका ध्यान भटकाने के लिए कहा, *"अरे छोड़ो ये सब! देखो ऑटो कब मिलेगा? अगर देर हुई तो ट्रेन छूट जाएगी।"* गनीमत रही कि तभी एक ऑटो मिल गया। हम सब उसमें बैठे, लेकिन ऑटो के अंदर एक अजीब सी खामोशी और तनाव था।

हम राजघाट पहुंचे। वहां आज पैर रखने की भी जगह नहीं थी। कल 'महास्नान' (कुंभ पर्व) था, इसलिए श्रद्धालुओं का हुजूम उमड़ा हुआ था। हमने किसी तरह घाट पर स्नान किया। सड़क पर इतना जाम था कि सड़क के रास्ते वाराणसी जंक्शन पहुंचना नामुमकिन था। इसलिए हमने दिमाग लगाया और राजघाट के पास ही स्थित काशी रेलवे स्टेशन से ट्रेन पकड़ी और वाराणसी जंक्शन पहुंचे। यह निर्णय सही साबित हुआ।

वाराणसी स्टेशन पर तो नज़ारा ही अलग था। तिल रखने की जगह नहीं थी। चोरी या जेब कटने के डर से हमने अपने बैग पीठ के बजाय छाती की ओर (आगे) टांग लिए थे। तभी अनाउंसमेंट हुई—"*वाराणसी से प्रयागराज जाने वाली महाकुंभ स्पेशल ट्रेन प्लेटफॉर्म नंबर* दो *पर आ रही है।"*

हम दौड़कर प्लेटफॉर्म दो **पर पहुंचे। मैंने पहले ही रणनीति बना ली थी कि ट्रेन रुकते ही सीट पर कब्ज़ा करना है, इसलिए मैं लाइन में सबसे आगे खड़ा था। ट्रेन आई और एक भयंकर धक्का-मुक्की शुरू हो गई। उस आपाधापी में, मैं एक कोच में चढ़ गया, जबकि राहुल और पियुष भीड़ के धक्के से दूसरे कोच में चढ़ गए और अब हम एक ही ट्रेन में होकर भी अलग-अलग थे।**

मैं एक सुरक्षित सीट पर कब्जा जमा चुका था, लेकिन राहुल और पियुष का अता-पता नहीं था। मैंने लोगों की गालियाँ सुनकर भी सीट रोक रखी थी, यह कहकर कि "मेरे दोस्त आ रहे हैं।" फोन लग नहीं रहा था, तभी उनका मैसेज आया—"*तेरे लिए यहाँ सीट है, तू इधर आजा।"*

मैंने आव देखा न ताव, बिना सोचे-समझे अपनी जीती हुई सीट छोड़ी और ट्रेन से नीचे उतर गया। नीचे आते ही मुझे अपनी 'ऐतिहासिक गलती' का अहसास हो गया। प्लेटफॉर्म पर तिल रखने की जगह नहीं थी, सीट मिलना तो दूर, ट्रेन में दोबारा चढ़ना भी नामुमकिन लग रहा था। पुलिस वाले डंडे मार कर लोगों को चढ़ने से रोक रहे थे।

मैं खिडकियों के पास पागलों की तरह चिल्लाने लगा—"*राहुल! पियुष!*" तभी पियुष ने किसी और के फोन से कॉल किया और बताया, "*खिड़की से हाथ बाहर निकाल रहे हैं, आजा।*" मैं उस खिड़की के पास पहुंचा तो देखा कि वे दोनों मजे से ऊपर बैठे हैं और साथ में एक लड़की भी है। अब समस्या अंदर जाने की थी। दरवाजे पर लड़के लटके हुए थे। मैंने एक से विनती की, "*भाई, मुझे चढ़ने दो, मैं अंदर चला जाऊंगा।*" उसने

झुंझलाकर कहा, "*अरे भाई, मैं खुद लटका हूँ, तुम कहाँ से जाओगे?*" मैंने दांव खेला, "*भाई, मेरे दोस्तों के पास सीट है, मैं वहीं जा रहा हूँ। अगर मैं भीड़ में खड़ा दिखूं तो मुझे धक्का देकर बाहर निकाल देना।*" सीट का लालच या मेरी मजबूरी देखकर उसने थोड़ी जगह दी। धक्कम-पक्की करते हुए, पसीने में तर-बतर होकर आखिरकार मैं उस सीट तक पहुँच ही गया। सर्दी का मौसम था, लेकिन बोगी के अंदर जेठ की दुपहरी वाली गर्मी थी।

ट्रेन में लाइट नहीं थी, गहरा अंधेरा था। दो घंटे हो गए, ट्रेन टस-से-मस नहीं हुई। शाम के चार बज चुके थे। जब ट्रेन ने रेंगना शुरू किया और खिड़की से पहली ताजी हवा आई, तो ऐसा लगा मानो किसी प्रेमी को बिछड़ी हुई प्रेमिका मिल गई हो।

माहौल को हल्का करने के लिए मैंने पियुष से कहा, "*यार, सन्नाटा बहुत है, कुछ बजा।*" पियुष ने अपना स्पीकर निकाला और हनुमान चालीसा बजा दी। फिर क्या था! अंधेरे में डूबी वह पूरी बोगी भक्ति के प्रकाश से जगमगा उठी। एक-दो नहीं, बल्कि सारे यात्री एक सुर में हनुमान चालीसा और भजन गाने लगे। जिनके पास फोन था, वे वीडियो बनाने लगे। स्पीकर की बैटरी खत्म हो गई, लेकिन लोगों का उत्साह खत्म नहीं हुआ। गाते-बजाते हम झूसी रेलवे स्टेशन पर उतरे।

स्टेशन पर गंदगी का अंबार देखकर मन थोड़ा विचलित हुआ। हम 'जय श्री राम' के जयकारे लगाते हुए बाहर आए। भूख जोरों की थी, इसलिए घाट के किनारे एक स्टॉल पर रुककर हम तीनों ने दो थालियाँ लीं और मिल-बांटकर भोजन किया।

इसके बाद जो मंज़र सामने आया, उसने रूह कंपा दी। सड़क पर जनसैलाब था। भीड़ इतनी थी कि चलना तो दूर, साँस लेना भी भारी था। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि लोग छोटे बच्चों, वृद्धों और महिलाओं को इस भीड़ में कैसे ले आए। सामने से आ रही एक चार पहिया गाड़ी ने

रही-सही कसर पूरी कर दी, जिससे पूरा रास्ता ब्लॉक हो गया। भीड़ का दबाव इतना भयानक था कि बीच में फंसा एक दंपत्ति अपनी मोटरसाइकिल सहित गिर पड़ा। भीड़ का रेला ऐसा था कि उनकी बाइक को उठाना नामुमकिन था। लोग एक-दूसरे को रौंदते हुए, गिरते-पड़ते आगे बढ़ रहे थे। कोई चाहकर भी रुक नहीं सकता था, क्योंकि रुकने का मतलब था कुचले जाना। हम उस दंपत्ति की मदद करना चाहते थे, लेकिन बेबस थे। हम भी उसी प्रवाह में बहते चले गए। उस दिन मुझे वहां जीवन का असली सार समझ आ गया—कि जीवन किसी के लिए नहीं रुकता, बस निर्दयता से आगे बढ़ता रहता है।

चलते-चलते हम घाट के उस विशाल विस्तार में पहुँच गए जहाँ तंबुओं का एक अलग ही नगर बसा हुआ था। घाट इतना बड़ा था कि उसका छोर दिखाई नहीं दे रहा था। हर तरफ टेंट लगे थे, धूनियाँ रमी थीं और साधु-संत भजन गा रहे थे। उस माहौल को देखकर सतयुग का अनुभव हो रहा था, मानो हम किसी दूसरी ही दुनिया में आ गए हों।

पियुष ने व्यावहारिकता दिखाई। उसने कहा, *"भाई, रेत पर बैठने के लिए एक प्लास्टिक की चटाई खरीद लेते हैं। माघ का समय है, नीचे से नमी आएगी तो गीले हो जाएंगे और ठंड लग जाएगी।"* हम तुरंत राजी हो गए।

तभी लाउडस्पीकर पर कुंभ की सबसे पहचान वाली आवाज़ें गूंजने लगीं—'खोया-पाया विभाग' की अनाउंसमेंट्स। पीछे से आवाज़ आई—*"ए भोला के पापा! हम खोया-पाया केंद्र नंबर एक पर बानी, आइना... हम खोजत-खोजत परेशान हो गइली... आ जाइया।"* तभी दूसरी तरफ से किसी और की गुहार गूंजी—*"ए राजुआ! कहाँ गईले रे? ए बच्ची, हम ई 1 नंबर खोया-पाया पर बानी।"* बल्लियों के घेरे पर लगे माइक से अलग-अलग भाषाओं और बोलियों में लोग अपने बिछड़े हुए प्रियजनों को बुला रहे थे। यह सुनना जितना दिलचस्प था, उतना ही भावुक भी।

घाट के किनारे लोग खुले आसमान के नीचे सोए हुए थे क्योंकि कल मौनी अमावस्या का 'अमृत स्नान' था। शुभ मुहूर्त सुबह पाँच बजकर पच्चीस मिनट से छह बजकर अठारह मिनट तक था। हर किसी की कोशिश थी कि वह घाट के करीब रहे ताकि ब्रह्म मुहूर्त में डुबकी लगा सके। हमने भी ठान लिया था कि स्नान तो शुभ मुहूर्त में ही करेंगे।

रात के ग्यारह बज रहे थे। समय कछुए की गति से बीत रहा था। कड़ाके की ठंड और गहराते कोहरे ने हड्डियों में सिहरन पैदा कर दी थी। हमारी हालत खराब थी—पिछले तीन दिनों से न ठीक से सोए थे, न ढंग का भोजन किया था। आँखों में नींद का नशा छा रहा था, लेकिन एक जुनून सवार था—अखाड़े देखने का।

हम कांपते हुए अखाड़ों की तलाश में निकल पड़े। पियुष ने एक सिपाही से पूछा, *"भैया, ये नागा साधुओं का अखाड़ा कहाँ है?"* सिपाही ने सलाह दी, *"अभी मत जाओ, सब सो रहे हैं। अखाड़ा यहाँ से दो किलोमीटर दूर है, सीधे चलते जाओ।"*

थकावट इतनी थी कि अब एक-एक कदम उठाना भारी पड़ रहा था। राहुल की हिम्मत जवाब दे गई, बोला—*"यार, थोड़ी देर बैठ जाते हैं, पैर बहुत दर्द कर रहे हैं।"* लेकिन मैं और पियुष अड़े रहे, *"नहीं, अभी और आगे चलेंगे। सीधे अखाड़े में जाकर ही दम लेंगे।"*

चलते-चलते अखाड़ों की कतार शुरू हुई। बड़े-बड़े होर्डिंग्स पर 'जूना अखाड़ा', 'निर्मोही अखाड़ा' जैसे नाम लिखे थे। अंदर भजन-कीर्तन चल रहा था, लेकिन द्वार बंद थे। बाहर शाही सवारी के लिए गाड़ियों और पालकियों को सजाया जा रहा था, जिन पर बैठकर साधु-महात्मा कल संगम नोज़ तक शाही स्नान के लिए जाएंगे। हम तीनों की इच्छा थी कि उन दिव्य साधुओं के दर्शन करके ही मानेंगे। लेकिन अब शरीर साथ छोड़ रहा था। थकावट के कारण अब आगे बढ़ना तो दूर, खड़ा रहना

भी मुश्किल हो रहा था। अब हमें बस दो गज़ ज़मीन चाहिए थी—बैठने के लिए।

ठंड से बचने के लिए हमें एक जगह दिखा, जहाँ पहले से कुछ लोग सो रहे थे। हम भी वहीं जाकर दुबक गए। अभी शरीर को थोड़ी गर्माहट मिली ही थी कि पुलिस की गाड़ी हूटर बजाते हुए आ गई। सिपाही चिल्लाए, *"भागो यहाँ से! जल्दी जगह खाली करो, यहाँ से नागा साधुओं का जुलूस निकलेगा।"* बेमन से हमें वहां से उठना पड़ा।

आगे एक आदमी प्लास्टिक की चटाई बेच रहा था। हमने पैसे मिलाकर एक बड़ी चटाई खरीदी और थोड़ी दूर जाकर, जहाँ भीड़ सो रही थी, अपना डेरा जमाया। अब चुनौती थी ठंड से बचने की। हमारे पास एक ही शॉल थी और हम तीन लोग। हमने गोल घेरा बनाया और शॉल ओढ़ने की कोशिश की। राहुल और पियुष ने तो बीच से शॉल हथिया ली, लेकिन मुझे (अभिषेक) बस एक कोना पकड़ा दिया। ठंड इतनी थी कि कोना पकड़े रहना मुश्किल था। मैं बार-बार शॉल खींचता, तो उनकी तरफ से कम हो जाती। यह रस्साकशी चल ही रही थी कि बगल में लेटे एक आदमी ने मजे लेते हुए कहा—"चपले (खींचते) रहो भैया!" उसकी बात सुनकर हम तीनों की हंसी छूट गई। क्या करते? पास-पास सिमटकर लेटने के अलावा कोई चारा नहीं था।

तभी पियुष ने मेरे कान में फुसफुसाया, *"अभिषेक, तुझे शॉल खींचते देख पीछे एक लड़की हंस रही है।"* मैं पीछे मुड़ा तो देखा सचमुच एक लड़की फोन पर बात करते हुए हमें देख रही थी और मुस्कुरा रही थी। मैंने कहा, *"देखने दे यार, यहाँ ठंड से जान निकल रही है।"* पियुष अपने पुराने अंदाज में बोला, *"देख, अभी भी स्माइल कर रही है... क्यूटीपाई!"* और हम तीनों उस भारी ठंड में भी हंस पड़े।

रात के दो बज चुके थे। आँख लगी ही थी कि पुलिस फिर डंडे फटकारते हुए आ गई—*"उठो! पीछे हटो!"* हमें फिर खदेड़ दिया गया। हम

उठकर खड़े हो गए। थकान और भारी बैग के कारण हालत खराब थी, समझ नहीं आ रहा था कि जाएँ तो जाएँ कहाँ। तभी दूर से ढोल-नगाड़ों की गूंज सुनाई देने लगी। हम समझ गए कि नागा बाबाओं का शाही स्नान शुरू होने वाला है। हम पीपा पुल के पास, जहाँ मिट्टी का कटाव था, वहीं एक सुरक्षित जगह खड़े हो गए ताकि बाबाओं के दर्शन हो सकें। सुबह के चार बज रहे थे। पालकी पर सवार महामंडलेश्वर और उनके पीछे सैकड़ों नागा साधुओं का हुजूम आ रहा था। ढोल की थाप पर उनका उत्साह देखते ही बनता था। हमने हाथ जोड़कर दूर से ही उन्हें नमन किया।

इसी बीच राहुल का फोन बजने लगा। उसके भाई का फोन था—*"हम आ रहे हैं, स्नान कहाँ करें?"* राहुल लगातार फोन पर बात कर रहा था, जिससे पियुष खीझ गया। उसने गुस्से में कहा, *"यार, तेरा भाई तेरे बिना कोई काम नहीं कर सकता क्या? सुबह से परेशान कर रखा है। अब तू फोन नहीं उठाएगा। या तो तू वहीं चला जा, या हमारे साथ रहना है तो फोन बंद रख।"* राहुल ने भाई को समझाया कि वे लोग स्नान करके निकल रहे हैं, और फिर फोन रख दिया।

आखिरकार वह घड़ी आ गई। सुबह के पांच बज चुके थे। शुभ मुहूर्त शुरू हो गया था। हम संगम तट पर पहुंचे। बर्फीले पानी को छूते ही रोंगटे खड़े हो गए, लेकिन आस्था की गर्मी ने सब संभाल लिया। तीनों ने बारी-बारी से डुबकी लगाई। 'हर-हर गंगे' और 'जय श्री राम' के जयकारों के साथ हमने सभी देवी-देवताओं को प्रणाम किया और उगते हुए सूर्य को अर्घ्य (जल) दिया। स्नान के बाद शरीर में एक नई ऊर्जा और मन में असीम शांति थी। हमने कपड़े बदले और भीड़ बढ़ने से पहले ही प्रयागराज से बाहर निकलने की योजना बनाने लगे।

हम संगम से थोड़ा ही आगे बढ़े थे कि अचानक भीड़ का दबाव कई गुना बढ़ गया। हम दो विपरीत धाराओं के बीच फंस गए थे—एक तरफ से नहाकर लौटने वाले लोग और दूसरी तरफ से नहाने जा रहे श्रद्धालु। हम तीनों बीच में ऐसे पिस गए कि न आगे बढ़ पा रहे थे, न पीछे।

डर लग रहा था कि कहीं कोई गिर न जाए। अगर कोई गिर गया, तो इस जनसैलाब में उसका उठना नामुमकिन था। दूर-दूर तक सिवाय इंसानी सिरों के कुछ नहीं दिख रहा था। ऊपर से प्रशासन ने बीच-बीच में बड़ी गाड़ियाँ खड़ी कर दी थीं, जिससे रास्ता और संकरा हो गया था और दबाव बढ़ गया था। विडंबना यह थी कि कुछ लोग ऊँची जगहों पर खड़े होकर तमाशबीन बने थे और नीचे फंसी भीड़ का वीडियो बनाकर मज़ाक उड़ा रहे थे।

मेरे (अभिषेक) ठीक पीछे एक दुबली-पतली महिला थी जो फूट-फूट कर रो रही थी। वह अपने बूढ़े माता-पिता के साथ आई थी, लेकिन भीड़ के धक्के में उनके हाथ छूट गए। उसका विलाप दिल चीरने वाला था—"अरे बुढ़वा और बुढ़िया कैसे होई रे मइया! अरे माई रे माई! हमार माई और बाऊ हमरा का साथवा छूट गइले, अब का होई रे मइया..."

मैंने पूछा, *"क्या हुआ माता जी?"* तो उसने रोते हुए अपनी व्यथा बताई। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए मैंने कहा, *"देखिए, आप रोइए मत। पहले इस जानलेवा भीड़ से बाहर निकलिए, यहाँ खड़े रहे तो कोई नहीं बचेगा।"* फिर मैंने एक ढाल की तरह उस महिला और एक अन्य बुजुर्ग को अपने आगे किया और उन्हें धक्कों से बचाते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ाने लगा। नीचे का मंज़र डरावना था—लोगों के बैग, कपड़े और चप्पलें पैरों के नीचे कुचले जा रहे थे। पानी की बोतलें फूट चुकी थीं।

हम तीनों दोस्तों ने एक-दूसरे के बैग को कसकर पकड़ रखा था। इस आपाधापी में कौन आगे था, कौन पीछे, कुछ पता नहीं चल रहा था। बस 'जय श्री राम' का नाम ही सहारा था।

जैसे-तैसे हम झूसी रेलवे स्टेशन की ओर जाने वाली सड़क पार करने लगे। तभी एक अजीब वाकया हुआ। भीड़ के बीच में एक लड़का अपनी 'बुलेट' बाइक लेकर घुसने की कोशिश कर रहा था। उसकी इस बेवकूफी से वहां जाम लग गया और वह खुद भी फंस गया। तभी चार-पाँच पुलिसवाले वहां पहुंचे। उन्होंने भीड़ को रोकने के लिए डंडे का बैरिकेड बनाया, लेकिन भीड़ का रेला रुकने का नाम नहीं ले रहा था। पुलिसवालों ने बड़ी मुश्किल से उस बाइक सवार को भीड़ से पीछे खींचा। और फिर, गुस्से और हताशा में उन्होंने उस लड़के को पीटना शुरू कर दिया और धक्के मारकर बाहर निकाल दिया। शायद पुलिस की भी मजबूरी थी, क्योंकि एक छोटी सी गलती वहां सैकड़ों जान ले सकती थी।

हम कॉलोनी के रास्ते आगे बढ़ रहे थे। वहाँ भी नज़ारा अजीब था; छतों पर खड़े लोग नीचे फंसी भीड़ का वीडियो बना रहे थे, मानो यह कोई तमाशा हो। झूसी रेलवे स्टेशन के करीब पहुँचकर हमने थोड़ी राहत महसूस की और गरमा-गरम पकौड़े खाने लगे। तभी बगल से गुजरते हुए एक पुलिसकर्मी को फोन पर बात करते सुना—"साहब, बहुत हालत खराब है। भीड़ में दबकर पचास लोग मर गए हैं।"

यह सुनते ही हमारे पैरों तले ज़मीन खिसक गई। पकौड़े हलक में अटक गए। लोग यहाँ पुण्य कमाने आए थे, लेकिन यह क्या अनर्थ हो गया? मन घबरा गया। मैंने (अभिषेक) तुरंत अपने भाई सचिन को फोन लगाया। मैंने पूछा, *"कहाँ हो तुम?"* उसने बताया, *"हम प्रयागराज स्टेशन पर हैं।"* मैंने चीखकर कहा, *"सुनो, तुरंत प्रयागराज से बाहर निकलो। कोई भी ट्रेन मिले, बस वहाँ से हट जाओ। हालात बहुत खराब हैं।"*

हम स्टेशन के अंदर जाने की कोशिश करने लगे, लेकिन पुलिस ने मुख्य द्वार बंद कर दिए थे। किसी को अंदर नहीं जाने दिया जा रहा था। लेकिन रुकना संभव नहीं था। हमने देखा कि कुछ लोग दीवार फांदकर

प्लेटफॉर्म की ओर जा रहे हैं। हमने भी एक-दूसरे को देखा और कहा—"*जाना तो पड़ेगा।*" फिर क्या था, हम तीनों ने बारी-बारी से दीवार फांदी और प्लेटफॉर्म पर कूद गए। किस्मत से गोरखपुर से आने वाली एक स्पेशल ट्रेन खड़ी थी जो रामबाग जा रही थी। बोगियों में जगह नहीं थी, तो हम 'सामान वाली बोगी' में चढ़ गए।

रामबाग स्टेशन पहुँचा तो देखा वह बिल्कुल खाली पड़ा है, क्योंकि भीड़ को बाहर ही रोक दिया गया था। हमारी असली योजना यहाँ से मथुरा जाने की थी, लेकिन भीड़ और हालात को देखते हुए हमने तय किया कि पहले वाराणसी चलते हैं, फिर वहाँ से मथुरा निकलेंगे।

ट्रेन में चढ़े तो शुरुआत में वह खाली थी। हम तीनों ने एक-एक सीट पकड़ ली और सो गए। लेकिन यह सुख थोड़ी देर का ही था। अगले स्टेशनों पर भीड़ बढ़ने लगी और अंततः हम तीनों को सिमटकर एक ही सीट पर आना पड़ा।

मैंने फोन चार्जिंग पर लगाया। जैसे ही फोन चालू हुआ, उमेश भैया का फोन आने लगा। वे हर दस मिनट पर फोन करते और एक ही रट लगाते—"*कहाँ हो? मथुरा मत जाओ। सीधे भोपाल आ जाओ। बाद में चले जाना।*" मैं उन्हें समझाने की कोशिश करता—"*भैया, मैं जाऊँगा। बार-बार मौका नहीं मिलता। हम संभाल लेंगे।*" लेकिन वे मानने को तैयार नहीं थे। उधर सीट पर हम तीनों बुरी तरह फंसे हुए थे। पियुष और राहुल न ठीक से बैठ पा रहे थे, न सो पा रहे थे। ऊपर से भैया के लगातार फोन ने दिमाग खराब कर दिया था। पियुष झुंझलाकर बोला, "*यार फोन काट इनका! इनको कोई काम नहीं है क्या जो बार-बार फोन कर रहे हैं?*" थक-हारकर मैंने फोन काट दिया।

नींद का यह आलम था कि एक ही सीट पर हम तीनों, एक-दूसरे के कंधे और पैरों पर सिर रखकर सो गए। ट्रेन कछुए की चाल चल रही थी।

सुबह आठ बजे प्रयागराज से निकली ट्रेन ने शाम को पांच बजे हमें बनारस पहुँचाया। पूरे नौ घंटे का थका देने वाला सफर!

बनारस स्टेशन के बाहर निकलकर हमने चाट और चाय-बिस्कुट खाया, तब जाकर जान में जान आई। फिर वेटिंग रूम में शरण ली। मोबाइल चार्जिंग पर लगाए, फ्रेश हुए और वहीं सोफ़े पर पसर गए। शाम के आठ बजे आने वाली ट्रेन का इंतज़ार था, लेकिन उसका अभी कोई अता-पता नहीं था।

मेरी (अभिषेक की) तबीयत अब जवाब देने लगी थी। शरीर टूट रहा था और थकान हावी हो गई थी। गिरती सेहत को देख मेरा मन डोल गया। मैंने मथुरा जाने का इरादा बदलते हुए कहा, ***"यार, अभी मथुरा रहने देते हैं। फिर कभी चलेंगे। अभी वापस भोपाल चलते हैं।"***

उसी समय राहुल के भाई और जीजा जी भी किसी ट्रेन से वाराणसी आ रहे थे और संयोग से मेरा भाई (सचिन) भी उसी समय आ रहा था। तभी विकास भैया का फोन आया, वे हमें लेने स्टेशन के बाहर खड़े थे। अब निर्णय की घड़ी थी। मैंने राहुल से पूछा, ***"भाई, अगर तू और पियुष मथुरा जाना चाहते हो तो जाओ, मैं यहीं बनारस रुक जाता हूँ। मैं बाद में भोपाल आ जाऊंगा।"*** **राहुल ने भी स्थिति समझी और कहा,** ***"ठीक है, तू रुक जा, हम देख लेंगे।"*** **मन तो नहीं था, पर शरीर की मजबूरी के कारण मैं उन्हें स्टेशन पर छोड़कर बाहर आ गया।**

विकास भैया मिले, उन्होंने चाय-पानी पिलाई जिससे थोड़ी राहत मिली। फिर हम आलोक भैया से मिले, जिन्होंने अपनी बाइक हमें दी। मैं, और सचिन और बाइक से घर (गाँव) की ओर निकल पड़े। रास्ते में आशापुर में रुककर हमने रात का भोजन किया। तभी सचिन के फोन पर 'पुटपुट' (अनूप) का फोन आया— ***"अरे, हम लोग पनीर की पार्टी कर रहे हैं, जल्दी आ जाओ, साथ में खाएंगे।"*** **हमने कहा,** ***"ठीक है, आ रहे हैं।"***

खाना खाकर हम घर की ओर बढ़े, लेकिन मेरे दिमाग में तूफान चल रहा था। मेरा मन मुझे कोस रहा था—"मुझे नहीं आना चाहिए था। हम साथ चले थे, तो साथ ही रहना चाहिए था।" इस आत्म-ग्लानि के कारण बाइक की स्पीड अपने आप बढ़ती जा रही थी। रात के बारह बज चुके थे। चारों ओर गहरा सन्नाटा और घना कोहरा था। ठंडी हवा सीधे आँखों में चुभ रही थी, जिससे आँखों से पानी बह रहा था—शायद वह हवा का असर था, या शायद दोस्तों को मझधार में छोड़ने का पछतावा।

गाँव पहुँचकर हम सीधे पुटपुट के यहाँ गए, लेकिन नज़ारा कुछ और ही था। जनाब हमें पार्टी का न्योता देकर खुद घोड़े बेचकर सो रहे थे। सचिन वहीं रुक गया, और मैं छोटू को लेकर अपने घर आ गया।

बिस्तर पर लेटा तो नींद कोसों दूर थी। करवटें बदलते हुए बस यही सोचता रहा—*क्या मैंने सही किया?* रहा नहीं गया तो मैंने राहुल को फोन लगाया—*"कोई ट्रेन आई क्या?"* उसने कहा, *"नहीं, अभी तक कोई नहीं आई।"* मैंने राहत की सांस ली और तुरंत फैसला सुनाया, *"सुन, अगर सुबह तक ट्रेन नहीं आती है, तो मैं कल वापस आ रहा हूँ। हम साथ ही चलेंगे।"* यह बोलकर मैं सो गया।

सुबह हुई तो मैंने फिर राहुल को फोन किया, *"क्या हुआ भाई? ट्रेन आई?"* उधर से राहुल की आवाज़ आई, *"नहीं यार। अब बता कौन सी ट्रेन से जाना है? मैं भी आ रहा हूँ।"* मैंने जोश में कहा, *"हम महाकाल एक्सप्रेस से भोपाल चलेंगे।"* उसने कहा, *"ठीक है, आजा।"*

मन खुश था कि अब हम फिर साथ होंगे और घर लौटेंगे। मैं तैयार हो ही रहा था कि तभी माँ का फोन आ गया। माँ ने कहा, *"बेटा, तेरी दीदी के यहाँ (गाजीपुर) ज़रूरी काम है, तुझे वहाँ जाना होगा।"* मैं सन्न रह गया। बनारस से गाजीपुर जाना और फिर वापस आना—इसमें बहुत समय लगने वाला था। उधर दोस्त स्टेशन पर मेरा इंतज़ार कर रहे थे और इधर माँ का आदेश। मैं फिर धर्मसंकट में फंस गया।

मैं और सचिन गाजीपुर से होकर वापस घर पहुंचे तो दोपहर के दो बज चुके थे। हमारे पास समय नहीं था, इसलिए हम वहां से भागते हुए सीधे स्टेशन की ओर निकले। स्टेशन पर वही पुरानी भीड़। बड़ी मुश्किल से धक्के खाते हुए मैं अंदर पहुंचा।

वहां का नज़ारा देखकर मैं सहम गया। पियुष, राहुल और उसके जीजा जी (और भाई) फर्श पर बैठे थे। पियुष की आँखें नींद की कमी से बिल्कुल लाल अंगारा हो रही थीं। पिछले पाँच-छह दिनों से वह ठीक से सोया नहीं था और अब उसका सब्र टूट चुका था। मुझे देखते ही उसका गुस्सा फूट पड़ा। वह राहुल को गालियां बकने लगा। उसका कहना था—*"अगर तू यहाँ होता, तो इन ** (अपशब्द) को बकते हुए मैं नहीं सहता छोड़कर मैं भी मथुरा चला गया होता।"***

मैंने उसे शांत करने की कोशिश की, *"भाई, कल मेरी हालत सफर करने लायक नहीं थी, इसलिए रुका था। और मैंने राहुल से पूछा था कि अगर तुम लोग जाना चाहो तो जाओ। इसने 'हाँ' कहा, तभी मैं रुका। अगर यह मना करता तो मैं नहीं रुकता।"*

पियुष का गुस्सा जायज़ था। उसने बताया कि राहुल के जीजा और भाई ने उन दोनों का जीना हराम कर रखा था। जीजा जी को 'दामाद वाली खातिरदारी' चाहिए थी। वे न खुद रुके, न उन्हें रुकने दिया। पियुष और राहुल उन्हें रात भर घाट-घाट घुमाते रहे, लेकिन जीजा जी कहीं बैठने को तैयार नहीं थे। नींद और थकान से पियुष और राहुल का बुरा हाल था, लेकिन जीजा जी की 'दामाद वाली अकड़' खत्म नहीं हो रही थी। पियुष ने झुंझलाकर कहा, *"भाई, मैंने तो सुना भी दिया है। अगर अब ज्यादा दिमाग खराब किया तो और बुरा सुनेंगे।"*

मैंने पियुष के कंधे पर हाथ रखा और कहा, *"शांत हो जा। अभी ट्रेन का समय चार बजे हो गया है। झगड़ा छोड़, ट्रेन आते ही पहले चढ़ना होगा,*

वरना बैठने की जगह नहीं मिलेगी। तूने इतने दिन से नींद नहीं ली है, अब बस सोना है।"

ट्रेन आई, लेकिन अंदर से दरवाज़े बंद थे। चढ़ना नामुमकिन लग रहा था। तभी राहुल के भाई 'जीतेश' ने फुर्ती दिखाई। वह खिड़की के रास्ते अंदर कूदा और हमारे लिए दरवाज़ा खोला। मारामारी करके हमें एक नीचे और दो ऊपर की सीटें मिल गईं। राहुल और पियुष, जो नींद से मरे जा रहे थे, तुरंत ऊपर की सीटों पर जाकर सो गए। मैं नीचे बैठा। ट्रेन चल पड़ी और खिड़की से आती ठंडी हवा ने थोड़ी राहत दी।

रात के बारह बज रहे थे। सब कुछ शांत था। तभी अचानक राहुल के जीजा जी अपनी सीट से खड़े हो गए। उनकी आँखों में अजीब सा वहश था। उन्होंने पियुष (जो ऊपर सो रहा था) की तरफ उंगली उठाई और मुझ पर चिल्लाए— "यह तेरा दोस्त नहीं, दुश्मन है!" हम सब हक्के-बक्के रह गए। उन्हें अचानक क्या हो गया? वे यहीं नहीं रुके, जोर-जोर से चिल्लाने लगे—"ये सब दुश्मन हैं! गोलियां चल रही हैं! दुश्मन गोली चला रहे हैं! बचो!"

पूरी बोगी के यात्री नींद से जाग गए और तमाशबीन बन गए। राहुल और जीतेश ने उन्हें पकड़ा और डांटकर बैठाने की कोशिश की, *"जीजा जी, शांत हो जाइये! क्या कर रहे हैं?"* लेकिन वे बस चिल्लाए जा रहे थे। जीतेश ने उन्हें जबरदस्ती धक्का देकर सीट पर बैठाया और खूब डांटा। मैं और पियुष (जो शोर सुनकर जाग गया था) एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। हमारी समझ से बाहर था कि यह क्या ड्रामा है। मैंने राहुल से इशारे में पूछा—*"भाई, यह क्या हो रहा है?"* राहुल ने शर्मिंदगी और बेबसी से इशारे में कहा—*"बाद में बताऊंगा।"*

शायद कई रातों की जाग और थकान का असर जीजा जी के दिमाग पर चढ़ गया था, जिससे उन्हें मतिभ्रम हो रहा था। खैर, इस हाई-वोल्टेज

ड्रामे के साथ ट्रेन अपनी रफ़्तार पकड़ चुकी थी और हम भोपाल की ओर बढ़ रहे थे।

जीजा जी के उस हाई-वोल्टेज ड्रामे के बाद बोगी में धीरे-धीरे शांति छा गई। थकान इतनी थी कि कब आँख लगी, पता ही नहीं चला।

अगली सुबह जब आँख खुली, तो ट्रेन भोपाल जंक्शन में प्रवेश कर रही थी। अपने शहर की हवा महसूस करते ही शरीर में बची-खुची जान लौट आई। हम स्टेशन पर उतरे। चेहरे पर धूल थी, बाल बिखरे थे और आँखें सूजी हुई थीं, लेकिन दिल में एक अजीब सा सुकून था।

स्टेशन के बाहर निकलकर हमने एक-दूसरे को देखा। वही पियुष, वही राहुल और मैं—अभिषेक। पिछले कुछ दिनों में हमने क्या नहीं देखा—अयोध्या की भव्यता, काशी की गलियाँ, मणिकर्णिका का वैराग्य, कुंभ की जानलेवा भीड़, थप्पड़, झगड़े, और अंत में यह ट्रेन का पागलपन।

हमने ज्यादा कुछ नहीं कहा। बस एक फीकी मुस्कान के साथ हाथ मिलाया और अपने-अपने घर के रास्ते अलग हो गए।

घर पहुँचकर जब मैं अपने बिस्तर पर गिरा, तो लगा जैसे स्वर्ग मिल गया हो। छत को देखते हुए मैंने सोचा—यह सिर्फ 'तीनों की यात्रा' नहीं थी, यह हमारी दोस्ती की परीक्षा थी। हमने लड़ाइयाँ लड़ीं, एक-दूसरे को कोसा, लेकिन अंत में साथ वापस आए। भगवान के दर्शन तो हुए ही, पर असली दर्शन हमें 'जिंदगी' और 'दोस्ती' के हुए।

शायद यही यात्रा है। मंजिल से ज्यादा, सफर और साथी मायने रखते हैं।

— **समाप्त** —

तीनों की यात्रा

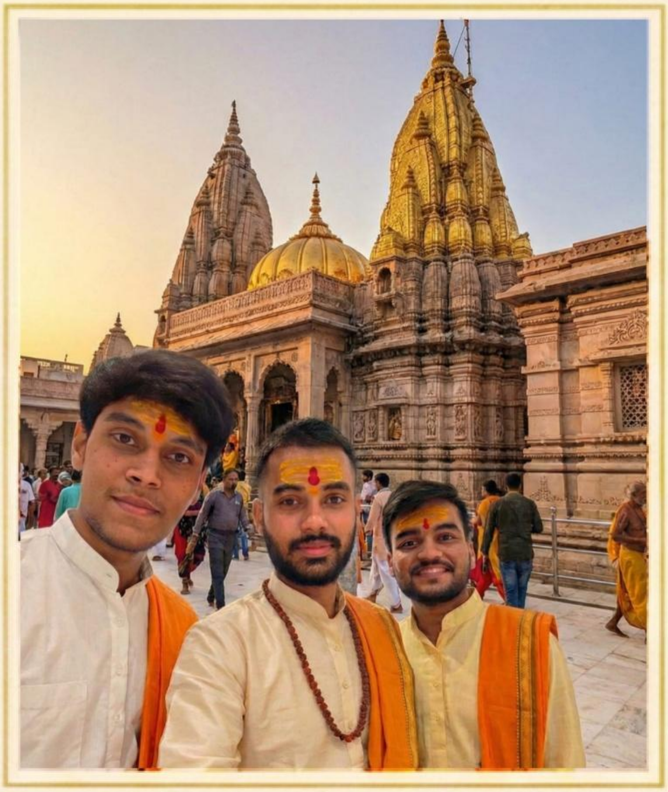

<u>लेखक परिचय</u>

अभिषेक यादव मूल रूप से बाबा विश्वनाथ की नगरी वाराणसी से नाता रखने वाले और झीलों के शहर भोपाल में पले-बढ़े अभिषेक यादव एक युवा लेखक और प्रतियोगी परीक्षाओं के अभ्यर्थी हैं।

'तीनों की यात्रा' उनकी पहली पुस्तक है, जो मात्र एक यात्रा-वृत्तांत नहीं, बल्कि दोस्ती, आस्था और उन खट्टे-मीठे अनुभवों का दस्तावेज है जो अक्सर योजनाओं के फेल होने पर बनते हैं। अभिषेक का मानना है कि असली यात्रा मंज़िल पर पहुँचने में नहीं, बल्कि दोस्तों के साथ जनरल डिब्बे के धक्कों, और घाट की सीढ़ियों पर बिताए पलों में छिपी होती है।